



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६६,५००

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, सितम्बर १९७२

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-श्रीयुगलवरसे प्रार्थना [कविता] (श्री 'भाईजी') ११०१	११०१	१२-गुरु नानकजी अमृत-वाणी (श्रीकृष्ण- दत्तजी भट्ट) ११३२	११३२
२-कल्याण (श्री 'भाईजी') ११०२	११०२	१३-प्राप्तव्य एक—मार्ग अनेक [संकलित] (श्रीरामकृष्ण परमहंस) ११३६	११३६
३-ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश (संकलित) ११०३	११०३	१४-प्रार्थना (तुम्हारा ही अपना एक) ११३७	११३७
४-एक महात्माका प्रसाद ११०६	११०६	१५-अर्धनारीश्वरं (ठा० श्रीसुदर्शनसिंहजी) ११३८	११३८
५-ओंकारकी सर्वरूपता (श्रीप्रसुदत्तजी ब्रह्मचारी) १११०	१११०	१६-रात्रि-प्रतीक्षा (विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोरके 'मेघेर पर मेघ जमे छे' पदका श्रीसत्यकाम विद्यालंकारद्वारा किया हुआ भावानुवाद) ११४०	११४०
६-सरन बृषभानु की किसोरी कौ [कविता] (श्री 'हठी') ११११	११११	१७-महात्मा श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी (श्रीरामलाल) ११४१	११४१
७-श्रीश्रीराधा-महिमाका स्मरण (नित्य- लीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमान- प्रसादजी पोद्दारद्वारा श्रीश्रीराधाजन्माष्टमी- महोत्सवपर गीतावाटिका, गोरखपुरमें दिये गये एक प्रवचनका कुछ अंश) १११२	१११२	१८-चेतावनी [कविता] (श्री 'कवीर') ११४५	११४५
८-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ११२१	११२१	१९-भक्ति एक विज्ञान है (डॉ० श्रीअवध- विहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल०) ११४६	११४६
९-गोसाईं श्रीविठ्ठलनाथजी—३ [डॉ० (सेठ) श्रीगोविन्ददासजी] ११२४	११२४	२०-साधो ! निन्दक मित्र हमारा [कविता] (संत श्रीचरणदासजी) ११५१	११५१
१०-'कृपालु शील कोमलम्' (श्रीरामनाथजी 'सुमन') ११३०	११३०	२१-पदों, समझो और कते ११५२	११५२
११-श्रेष्ठ कौन ? [संकलित] (संत एकनाथ- नाथभागवत ५ । ६०) ११३१	११३१	२२-करूँ तो क्या करूँ ! (श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि') ११५६	११५६

चित्र-सूची

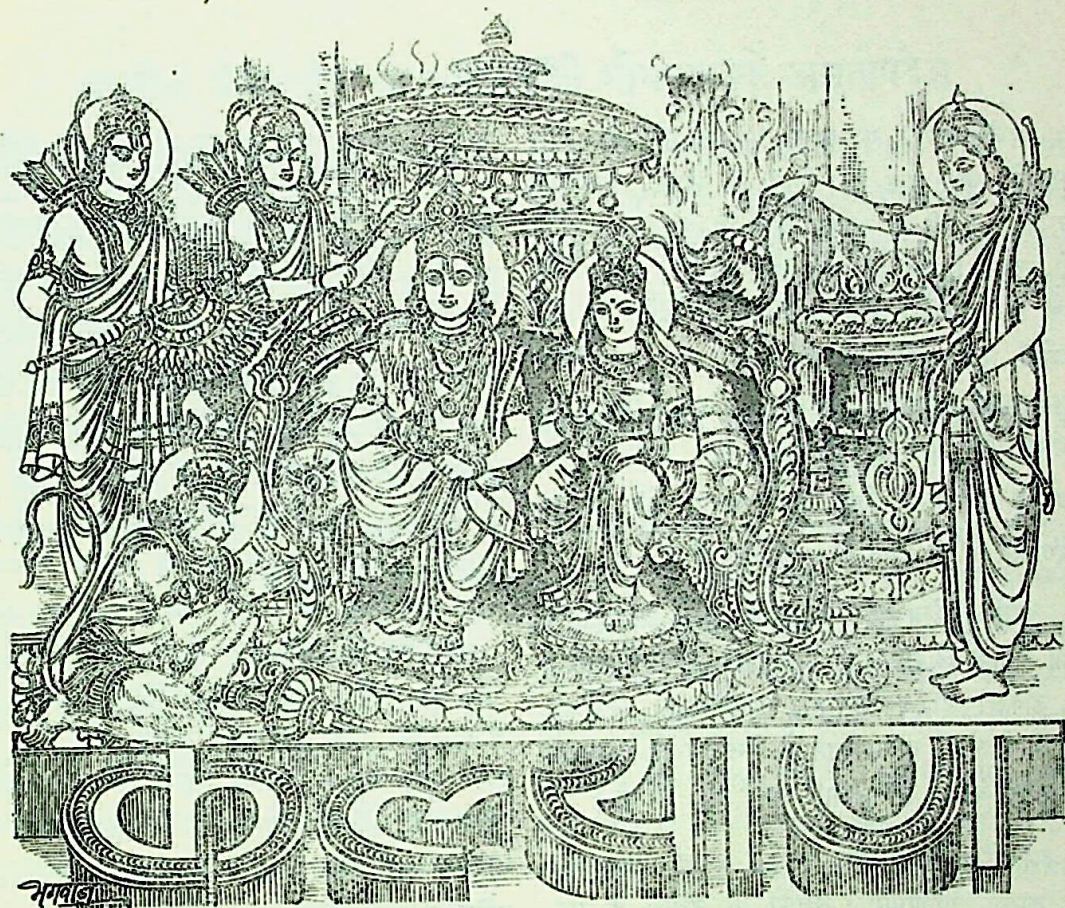
१-गुरुङ्गवाहन भगवान् विष्णु (रेखाचित्र) मुखपृष्ठ	मुखपृष्ठ
२-युगलछवि (तिरंगा) ११०१	११०१

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्पनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शान्ती

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमाशयः पूर्णमेवावशिष्यते ॥



दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा । पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥
(रामरक्षास्तोत्र, ३१)

वर्ष ४६ } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९८, सितम्बर १९७२ { संख्या ९
पूर्ण संख्या ५५०

श्रीयुगलवरसे प्रार्थना

बुझुनि की प्रीति अनादि, अनोखी ।
परम मधुर मूरति सनेह की, चिदानन्दमय चोखी ॥
मन-वचननि ते परे दिव्य दंपति अनादि अति सोहनि ।
पटतर नहिं कोउ, भई, न होइहै, जोड़ी मोहन-मोहनि ॥
प्रेमी-प्रेमास्पद दोउ नित ही, नित्य एक, द्वै देही ।
नित्य रास-रस-प्रसन्न, मत्ततारहित सुचारु सनेही ॥
ब्रज-मिहुंज प्रगटे दोउ रसमय, रसिक-जननि सुख हेतु ।
करत नित्य लीला तहँ सुललित लोकोत्तर रसकेतु ॥
सेबक मोहि करौ दोउ रसनिधि, करि अति नेह अकारन ।
राखौ चरननि में नित अपुनै, करि विष-विषय-निचारन ॥ 'भाईजी'

कल्याण

सभीके समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है—पाप क्या है, पुण्य क्या है ? किसी भी देशका, किसी भी जातिका, किसी भी मतका, किसी भी सम्प्रदायका व्यक्ति हो, उसके सामने यह प्रश्न आता ही है । अतएव यदि पाप और पुण्यकी कोई ऐसी परिभाषा करें, जो सभी देशोंमें, सभी जातियोंमें, सभी मतोंमें, सभी सम्प्रदायोंमें समानरूपसे समादृत हो, तो वह है—‘हमारे जिस कर्मसे हमारा और दूसरोंका परिणाममें हित होता हो, वह पुण्य है और हमारे जिस कर्मसे हमारा और दूसरोंका परिणाममें अहित होता हो, वही पाप है ।’

‘कर्म’का क्षेत्र बहुत व्यापक है । इसके अन्तर्गत हम सभी कर्मोंको ले सकते हैं—चाहे वह व्यापार हो, नौकरी हो, डाकूरी हो, वकालत हो, न्यायाधीशका कार्य हो, देशकी सेवा हो, घरका काम हो, लेन-देन हो, खान-पान हो, उठना-बैठना, सोना आदि-आदि कुछ भी हो ।

इस परिभाषामें दो शब्द मुख्य हैं—पहला ‘दूसरोंका’ और दूसरा ‘परिणाममें’ । बच्चेको माँ डाँटती है, गुरु शिष्यपर शासन करता है; इन दोनों प्रसङ्गोंमें माँ और गुरुका कर्म बड़ा कठोर प्रतीत होता है, पर उससे परिणाममें बच्चेका तथा शिष्यका हित होता है । चूँकि उस क्रियाके द्वारा दूसरेका हित हुआ है, अतएव माँ और गुरुका भी उससे हित निश्चित है । यह शाश्वत सत्य है कि जिस किसी कर्मके द्वारा दूसरेका परिणाममें हित होगा, उससे हमारा अहित होगा ही नहीं और जिस किसी कर्मके द्वारा दूसरेका परिणाममें अहित होगा, उससे हमारा हित होगा ही नहीं ।

कर्म करते समय जब हम अपने छोटे-से स्वार्थकी सीमामें आवद्ध होकर दूसरोंके हितको भूल जाते हैं, वहाँ कर्म पुण्य दिखायी देता हुआ भी पाप हो जाता है । ऐसी स्थितिमें तीन तरहकी वृत्तियाँ होती हैं—

पहली—दूसरेका हित हो यह तो ठीक है; परंतु यदि न होता हो तो हम क्या करें; हमें तो अपना हित देखना है । दूसरी वृत्ति, जो पहली वृत्तिसे नीची श्रेणीकी है, यह है कि हमारी क्रियासे दूसरोंका अहित होता है या होगा—यह हम जानते हैं; पर इसमें हमारा हित हो रहा है, तब हम उनके अहितकी परवा क्यों करें । तीसरी इससे भी नीची वृत्ति यह है कि हमें दूसरोंका अहित करना है, दूसरेके अहितमें ही हमारा हित है । पर मङ्गलकारी वृत्ति यह है कि अपना नुकसान भी सहन करके हम दूसरेका हित करें ।

वास्तवमें पाप और पुण्य किसी कर्मविशेषके नाम नहीं हैं, कर्मके केवल बाहरी स्वरूपसे उनकी संज्ञा निश्चित नहीं होती, भावानुसार कर्मकी संज्ञा होती है । एक व्यक्ति चाकूसे किसीके अङ्गको तनिक-सा आघात पहुँचाता है; दूसरी ओर एक सर्जन चाकू-कैंचीसे एक व्यक्तिका अङ्ग काटता है । दोनोंकी क्रियाएँ समान हैं, अपितु दूसरेकी क्रिया प्रथमसे अधिक तीव्र है; किंतु प्रथमकी क्रिया अहित-भावनासे प्रेरित होनेके नाते पापकी श्रेणीमें आती है और दूसरेकी क्रिया हित-भावनासे प्रेरित होनेके नाते पुण्यकी श्रेणीमें आती है । एक व्यक्ति किसीको मारनेका विधान करता है, दूसरी ओर एक न्यायाधीश न्यायासनपर बैठकर किसी अपराधीके लिये फाँसीका—दूसरेको मारनेका विधान करता है; पर भावके अनुसार पहलेकी क्रिया पाप है, दूसरेकी पुण्य ।

संक्षेपमें पाप-पुण्यका यह विवेचन है । इसको हम गम्भीरतासे समझें और प्रत्येक क्रिया करनेके पूर्व उसे इस विवेचनकी कसौटीपर कस लें । यदि हम सचाईके साथ इस कसौटीपर अपनी क्रियाओंको परखकर कर्ममें प्रवृत्त हों तो निश्चय ही हम बड़ी सरलतासे पापसे बच सकते हैं और पुण्यके भागी हो सकते हैं । ‘भाईजी’

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

भगवान्को प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा कीजिये !

भगवान्की प्राप्ति इच्छासे ही होती है। इच्छा जहाँ यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य हुई कि भगवान् मिले। भगवान्को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ हमारी इच्छापर निर्भर नहीं है। जगत्के सभी प्राणी चाहते हैं कि सुख मिले, दुःख नहीं; किंतु अधिकांशको दुःखकी ही उपलब्धि होती है। अतएव जड़-पदार्थोंके लिये इच्छा करना मूर्खता है; इच्छा करनेसे जड़-पदार्थ प्राप्त नहीं होते। उनके लिये पूर्वकृत कर्मोंका फलरूप प्रारब्ध चाहिये और वह अब हमारे हाथमें नहीं। पर भगवान्के लिये तीव्र इच्छा करनेपर वे अवश्य मिल सकते हैं। अतः भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छा करनी चाहिये और उसे यथेष्ट तीव्र एवं अनन्य बनानेका प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान्के मिलनमें जो देर हो रही है, उसमें त्रुटि हमारी ही है। भगवान् तो मिलनके लिये नित्य आतुर हैं; बस, हममें वैसी इच्छा होनी चाहिये। भगवान्के मिलनकी इच्छाको जाग्रत करनेके लिये एकान्तमें बैठकर करुणभावसे हृदय खोलकर रोना चाहिये। अपने अपराधोंको स्मरणकर गद्गद होकर भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये—‘प्रभो ! आपके अतिरिक्त संसारमें मेरा और कौन है ? नाथ ! मैं आपके शरण हूँ, आप मेरी रक्षा करें।’ भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अपने सम्मुख होनेवाले मनुष्यके अनन्त जन्मोंके पापोंको उसी क्षण क्षमा कर देते हैं।

अपने आत्माकी उन्नति उत्तरोत्तर तीव्रताके साथ करनी चाहिये। कल हमने जो साधन किया, उससे आज तीव्र होना चाहिये। आजसे आनेवाले कलको और तीव्र होना चाहिये। इसी प्रकार प्रातःकालसे मध्याह्नके, मध्याह्नसे सायंकालके, सायंकालसे रात्रिके और रात्रिसे

अगले दिन प्रातःकालके साधनमें क्रमशः तीव्रता रहनी चाहिये। घंटे-घंटेमें, फिर क्षण-क्षणके साधनमें उत्तरोत्तर तीव्रता होनी चाहिये। यदि इस प्रकारका प्रयत्न किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता।

भगवान्के दर्शन प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है प्रबल चाहकी

प्रभुमें श्रद्धा-प्रेम बढ़े, उनका चिन्तन बना रहे, एक पलके लिये भी उनका विस्मरण न हो—ऐसा ही लक्ष्य हमारा सदा बना रहना चाहिये। हमें वे चाहे जैसे रक्खें और चाहे जहाँ रक्खें, उनकी स्मृति अटल बनी रहनी चाहिये। उनकी राजीमें ही अपनी राजी, उनके सुखमें ही अपना सुख मानना चाहिये। प्रभु यदि हमें नरकमें रखना चाहें तो हमें वैकुण्ठकी ओर भी नहीं ताकना चाहिये और नरकमें वास करनेमें ही परम आनन्द मानना चाहिये। सब प्रकारसे प्रभुकी शरण हो जानेपर फिर उनसे इच्छा या याचना करना नहीं बन सकता। जब प्रभु हमारे और हम प्रभुके हो गये, तब बाकी क्या रहा ? हम तो प्रभुके बालक हैं। माँ बालकके दोषोंपर ध्यान नहीं देती। उसके हृदयमें बालकके लिये अपार प्यार रहता है। प्रभु यदि हमारे दोषोंका खयाल करें तो हमारा कहीं पता ही न लगे। प्रभु तो इस बातके लिये सदा उत्सुक रहते हैं कि कोई रास्ता मिले तो मैं प्रकट होऊँ। किंतु हम लोग ही उनके प्रकट होनेमें बाधक हो रहे हैं। देखनेमें तो ऐसी बात नहीं मालूम होती, ऊपरसे हम उनके दर्शनके लिये लालायित-से दीखते हैं; परंतु भीतरसे उन्हें पानेकी लालसा कहाँ है ? मुँहसे हम भले ही न कहें कि ‘अभी ठहरो’; परंतु हमारी क्रियासे यही सिद्ध होता है। प्रभुके प्रकट होनेमें विलम्ब सहन करना

ही उन्हें ठहराना है। प्रभुसे हमारा विछोह इसीलिये हो रहा है कि उनके वियोगमें (विछोहमें) हमें व्याकुलता नहीं होती। जब हम ही उनका वियोग सहनेके लिये तैयार हैं और कभी उनके वियोगमें हमारे मनमें व्याकुलता या दुःख नहीं होता, तब प्रभुको ही क्यों परवा होने लगी? यदि हमारे भीतर तड़पन होती और इसपर भी वे न आते तो हमें कहनेके लिये गुंजाइश थी। इसीसे हम उनके बिना जी रहे हैं। इस हालतमें वे यदि न आये तो इसमें उनका क्या दोष है। प्रकट होनेके लिये तो वे तैयार हैं; पर जबतक हमारे अंदर उत्सुकता नहीं होती, तबतक वे आये भी कैसे। उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है प्रबल चाहकी। वह चाह कैसी होनी चाहिये, इस बातको प्रभु ही पहचानते हैं। जिस चाहसे वे प्रकट हो जाते हैं, वही चाह असली चाह समझनी चाहिये। अतः जबतक वे न आये, चाह बढ़ती ही रहे। घड़ा भर जानेपर पानी अपने-आप ऊपरसे बह चकेगा।

मन-बुद्धिको भगवान्‌के काममें ही लगा देना चाहिये

जो मनुष्य भगवान्‌में अपने मनको लगा देते हैं, उनको निश्चय ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है—

तेषां सनतयुक्तानां भजतां प्रतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
(गीता १०।१०)

‘उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेम-पूर्वक भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।’

इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुनको आदेश दिया—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥
(गीता १२।८)

‘मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा;

इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।’

भगवान्‌ जब इतना निश्चित आश्वासन देते हैं, तब फिर हमारे मन-बुद्धि और क्या काम आयेगे। इन दोनोंको इसी क्षणसे भगवान्‌के काममें ही लगा देना चाहिये।

बुद्धिको भगवान्‌में लगा देना यह है कि परमात्मा सब जगह समानभावसे और विज्ञान-आनन्दरूपसे विराजमान हैं, सब जगह आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, आनन्दके सिवा और कुछ है ही नहीं—इस प्रकारके ध्यानमें स्थित रहना। इस प्रकारके ध्यानका फल अनायास ही परमात्माकी प्राप्ति है। बुद्धिमें खूब अच्छी तरहसे यह निश्चय हो जाना चाहिये कि निराकाररूपमें सब जगह हमारे ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर समानभावसे केवल एक परमात्मा ही है।

बुद्धिके इस निश्चयके अनुसार मनसे मनन करना—मनको भगवान्‌में लगाना है। इसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही है।

अपने भाव और क्रियाको उत्तम-से-उत्तम बनायें

जिनका किसीसे भी द्वेष नहीं, सबपर हेतुरहित दया और प्रेम है; जो क्षमाशील हैं; अहंकार और ममताका जिनमें अत्यन्त अभाव है; जिन्होंने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको वशमें करके भगवान्‌में ही लगा दिया है; जिनसे किसीको भी उद्वेग नहीं होता; जिनका हृदय इच्छा, भय, उद्वेग और आसक्तिका अत्यन्त अभाव होनेसे परम शुद्ध हो गया है; जो पक्षपातरहित और दक्ष हैं; जो संसारसे उदासीन और विरक्त हैं; जिनमें कर्मोंके कर्त्तापन और फलच्छाका अत्यन्त अभाव है; हर्ष-शोकका भी जिनमें अत्यन्त अभाव है; जिनका वैरी-मित्रमें, शीत-उष्णमें, अनुकूलता-प्रतिकूलतामें और मिट्टी-स्वर्गमें समानभाव है, इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी, पदार्थ, भाव, क्रिया और परिस्थितिमें जिनका समानभाव रहता है; जो

भगवान्‌के विधानमें हर समय संतुष्ट हैं, तथा घर और देहमें अभिमानसे रहित हैं; जिनकी बुद्धि स्थिर है और जो परमात्माके स्वरूपमें ही नित्य स्थित हैं—ऐसे भक्तिसंयुक्त, सद्गुणोंसे सम्पन्न भगवान्‌के भक्त भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय हैं ।

इसलिये हमें चाहिये कि अपने भाव और क्रियाओंको उत्तम-से-उत्तम बनायें । वास्तवमें भाव उत्तम होनेसे क्रिया अपने-आप स्वाभाविक ही उत्तम होने लगती है, उसमें कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता । जो सर्वथा ईश्वरके ही शरण हो जाता है, अपने-आपको ईश्वरके समर्पण कर देता है, उसमें ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे उत्तम गुण स्वतः ही आ जाते हैं । अतः हमलोगोंको उत्तम गुण और उत्तम भावकी प्राप्ति के लिये सब प्रकारसे ईश्वरके शरण होकर निष्काम प्रेमभावसे उनका अनन्य चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकार करनेपर ईश्वरकी कृपासे प्रमाद, आलस्य, भोग-वासना, दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन और व्यर्थ संकल्पोंका अत्यन्त अभाव एवं परम कल्याणकारक विवेक और वैराग्ययुक्त सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

परमात्माके गुण-प्रभाव महात्माओंके गुण-प्रभाव हैं

भगवान्‌को जो तत्त्वसे जानता है, वही 'महात्मा' है । प्रथम तो लाखों-करोड़ोंमें कोई एक महात्मा होता है, फिर उसका मिलना बहुत ही दुर्लभ है, मिलनेपर भी उसे पहचानना उससे भी कठिन है । महात्माओंके पहचाननेकी एक साधारण युक्ति यह है कि जैसे अग्निके समीप जानेसे जानेवालेपर अग्निका कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता है, जैसे सरकारके किसी सिपाहीको देखनेसे सरकारकी स्मृति होती है, वैसे ही भगवान्‌के भक्तके दर्शनसे भगवान्‌की स्मृति होती है । जिनका

सङ्ग करनेसे अपनेमें दैवी-सम्पत्तिका लक्षण आयें, जिनके सङ्गसे, जिनके साथ वार्तालाप करनेसे, दर्शनसे, स्पर्शसे आत्माका सुधार हो, अपनेमें भक्तोंके लक्षण प्रकट होने लगें, गुणातीत पुरुषोंके लक्षण आने लगें तो सनझना चाहिये कि यह 'महापुरुष' है । जब हम महापुरुषोंका सङ्ग करनेके लिये जायें, तब हम यह सनझें कि हम एक ज्ञानके पुष्पके सम्मुख जा रहे हैं—जैसे सूर्यके समीप जानेसे अन्धकार तो दूर भाग ही जाता है, साथ-ही-साथ अधिक-से-अधिक प्रकाश होता चला जाता है । हम देखते हैं कि जब प्रातःकाल सूर्य उदय होता है, तब ज्यों-ज्यों सूर्य नजदीक आता है, त्यों-ही-त्यों सूर्यके प्रकाशका अधिक असर पड़ता है । वैसे ही हम महात्माओंके जितने ही समीप होते हैं, उतना ही हमको अधिक लाभ मिलता है । वे एक ज्ञानके पुष्प हैं, उस ज्ञान-पुष्पसे हमारे अज्ञानान्धकारका नाश होकर हमारे हृदयमें भी ज्ञान-सूर्यका प्राकट्य होता है । महात्माओंमें अद्भुत प्रभाव होता है । उनके दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालापसे पापोंका नाश और दुर्गुण-दुराचारोंका अभाव होकर सद्गुण-सदाचार आ जाते हैं । अज्ञानका नाश होकर हृदयमें ज्ञान आ जाता है, जिससे हमें सहज ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है । यह उन महापुरुषोंका प्रभाव है, जो भगवान्‌के भेजे हुए अधिकारी पुरुष हैं, अथवा जो महापुरुष परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, यानी ब्रह्ममें मिल चुके हैं, सायुज्य मुक्तिको प्राप्त कर चुके हैं । ऐसे महात्मा परमात्मा ही बन जाते हैं । इसीलिये परमात्माके गुण-प्रभाव उनके गुण-प्रभाव हैं, यह सनझना ही महात्माको तत्त्वसे समझना है । वास्तव-में महात्माका आत्मा परमात्मासे अलग नहीं है; पर हम मानते नहीं, उसे परमात्मासे भिन्न समझते हैं, इसीलिये परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रहते हैं ।

(संकलित)

एक महात्माका प्रसाद

परिस्थितिका सदुपयोग

[गताङ्क पृष्ठ १०६२ से आगे]

परिस्थितिका अर्थ है—कर्तव्यपालनका क्षेत्र; कर्तव्यपालनका अवकाश। कर्तव्यपालनसे भिन्न परिस्थितिकी आवश्यकता नहीं और कर्तव्यपालनमें पराधीनता नहीं है; क्योंकि कर्तव्य एक-सा तो रहता नहीं, परिस्थितिके अनुसार बदलता रहता है। जिस परिस्थितिमें हमें जो करना चाहिये, उसमें कोई व्यक्ति पराधीन नहीं है। कल्पना करें कि इस समय मेरे सिरमें बड़े जोरकी पीड़ा हो रही है। आप कहेंगे कि आपका कर्तव्य है कि इसकी चिकित्सा करें और चिकित्साका साधन न हो तो यह भी तो मेरा कर्तव्य है कि उस पीड़ाको मैं धीरजके साथ सहन कर लूँ; क्योंकि पीड़ा सदैव तो रहेगी नहीं—पहले नहीं थी और आगे भी रहेगी नहीं। तो जो चीज सदैव नहीं रहेगी, उससे हम भयभीत हो जायँ और उसे बदलनेके लिये व्यर्थ प्रयास करें—यह बुद्धि-संगत कैसे है? फिर यह तो सोचिये कि आपके पास उस परिस्थितिको बदलनेका पहला साधन क्या होगा? पहला साधन होगा, उस परिस्थितिसे भयभीत न होना। आप पहले ही साधनको गलत कर देते हैं और भयभीत हो जाते हैं तो जो सामर्थ्य आपमें उस परिस्थितिका सदुपयोग करनेकी थी, वह सामर्थ्य भयसे नाश हो जाती है। यह बड़ी गम्भीरतासे सोचनेकी बात है कि जो व्यक्ति भयभीत रहता है, वह कभी सामर्थ्यका संचय नहीं कर सकता। उसके जीवनमें पग-पगपर असमर्थता आती है और जो भयभीत नहीं रहता, वह चाहे कितना ही निर्बल क्यों न हो, अगर उसकी मृत्यु भी आती है तो वह हँसकर उसको गले लगाता है और कहता है—‘आओ, आओ, आओ’; क्योंकि मृत्यु तो नवीन जीवनकी दात्री है, इसमें हानि ही क्या है? बताओ, मृत्युसे क्या हानि होगी? नवीन जीवन मिलेगा, अच्छा जीवन मिलेगा। जब शरीर कामके लायक नहीं रहता, तभी तो मृत्यु आती है! विश्रामसे क्या हानि है? विश्रामसे कोई हानि नहीं। ये सारी बातें हमलोगोंसे हो सकती हैं या नहीं? हम किसी और बातमें भले ही पराधीन हों, परंतु यह कितने आश्चर्यकी बात है कि हम आज विश्राममें भी पराधीन हो गये, निद्रामें भी पराधीन हो गये, कामनारहित होनेमें भी पराधीन हो गये। तो आप विचार करके देखें कि हम परिस्थितिका सदुपयोग तो करते नहीं, अप्राप्त परिस्थितिका चिन्तन करते रहते हैं

अथवा परिस्थितिको कोसते रहते हैं, अथवा अपनेको कोसते रहते हैं; दूसरोंकी निन्दा करते हैं या अपनी निन्दा करते हैं। यह हमारा स्वभाव बन गया है। इसी स्वभावने चित्तको अशुद्ध कर दिया है। इसलिये, भाई! प्रत्येक दशामें, प्रत्येक परिस्थितिमें प्रसन्न रहना है, शान्त रहना है और प्राप्त परिस्थितिका आदर करना है। इससे हममें परिस्थितिके सदुपयोगकी सामर्थ्य आ जायगी और जब हम परिस्थितिका सदुपयोग कर डायेंगे तो परिस्थितिसे अतीतके जीवनमें प्रवेश हो सकता है, तब हमें किसी परिस्थितिसे भयभीत होनेकी कौन-सी आवश्यकता है। अथवा किसी परिस्थितिको सुरक्षित रखनेकी कौन-सी चिन्ता है। लेकिन हम या तो परिस्थितिसे भयभीत होते हैं या परिस्थितिको सुरक्षित रखना चाहते हैं। परंतु यह क्या किसीके वशकी बात है कि हम जिस परिस्थितिको सुरक्षित रखना चाहें, उसमें परिवर्तन न हो, या जिस परिस्थितिसे हम भयभीत होते हैं, वह परिस्थिति हमारे सामने न रहे? परिस्थितिके सदुपयोगसे परिस्थिति बदलती है, परिस्थितिके भयसे परिस्थिति बदलती नहीं। इसलिये हम सबको परिस्थितिका सदुपयोग करना है। अब परिस्थितिका सदुपयोग करनेकी सामर्थ्य हममें कब आयेगी? उसके लिये सबसे पहली बात हमें यह माननी पड़ेगी कि परिस्थितिमें जीवन-बुद्धि न रखें। कोई भी परिस्थिति हमारा जीवन नहीं हो सकती।

आज हमारा सारा प्रयास और हमारी सारी चिन्ता इस बातके लिये नहीं है कि हमें अपने लक्ष्यकी प्राप्ति करनी है; हम इस बातके लिये चिन्तित रहते हैं कि यहाँ जमीन खाली है, यहाँ एक कुटी कैसे बन जाय और अमुक चीज कैसे हो जाय। जितनी चिन्ता आप एक परिस्थिति पैदा करनेके लिये करते हैं, क्या उतना ही प्रयास आप जो परिस्थिति आपको प्राप्त है, उसके सदुपयोगके लिये करते हैं? हम जीनेकी बड़ी भारी आशा रखते हैं। कभी किसीसे भी पूछिये कि ‘भाई! कबतक जिंदा रहना चाहते हो?’ तो वह इसकी कोई सीमा ही नहीं बता सकेगा। कितने आदमी ऐसे हैं, जो यह कहेंगे कि अब तो सचमुच जिंदा रहना आवश्यक नहीं है। परिस्थितिसे घबराकर कोई आदमी आत्महत्या करनेकी सोचे,

मरनेकी बात सोचे, वह बात अलसा है; लेकिन किसीसे यदि यह पूछा जाय कि 'आपको जिंदा रहनेकी आवश्यकता है या नहीं ?' तो यह बात साधारण व्यक्तिके मनमें कभी नहीं आती कि जिंदा रहनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति यही सोचता है कि जो कुछ उसे करना चाहिये था, वह अभी नहीं किया। इसीलिये हम जिंदा रहनेकी आज्ञा करते हैं। जो काम कर लेना चाहिये, उसे कर चुकनेके बाद कभी यह बात मनमें नहीं आयेगी कि हमको जिंदा भी रहना है, या जब काम समाप्त हो गया, तब भी काम करनेकी, साधन करनेकी आवश्यकता है। एक आदमी लिखनेके लिये बैठे और उसका लिखना समाप्त हो जाय, तब उससे पूछा जाय कि क्या अब भी उसे कलम-दावातकी आवश्यकता है। ऐसे ही यह परिवर्तनशील जीवन भी एक साधन-सामग्री है। हम वर्तमान जीवनका सदुपयोग तो करें नहीं और जीनेकी आज्ञा रखें तो बताइये, उसमें क्या कभी हमारा हित होनेवाला है ? कभी हित नहीं होगा। इसलिये जल्दी-से-जल्दी हमें इस बातको सोचना चाहिये कि परिस्थितिके सदुपयोगके द्वारा परिस्थितिसे अतीतका जो जीवन है, उसमें हमारी निष्ठा हो जाय, प्रतिष्ठा हो जाय, हमें वह प्राप्त हो जाय और जयत्क प्राप्त नहीं है, तयत्क उसकी लालसा जाग्रत् हो जाय। परिस्थितिसे अतीतके जीवनकी लालसामें इतनी सामर्थ्य है कि वह परिस्थितिजनित मोहका नाश कर देती है—परिस्थितिसे अतीतकी जो लालसा है, उसके द्वारा यह कई लोगोंको अनुभव होगा कि प्रियका मिलन जितना सुखद है, प्रियके वियोगमें प्रियकी स्मृति उससे कम सुखद नहीं है। आप यह न समझ बैठें कि मैं केवल ईश्वरवादकी दृष्टिसे यह बात निवेदन कर रहा हूँ। आपकी जो भी दृष्टि हो—आप अध्यात्मवादी हों या भौतिकवादी, आप उसी दृष्टिसे सोचिये कि जिस वस्तुकी लालसा जितनी प्रिय होती है, उसकी प्राप्ति कभी उतनी प्रिय नहीं होती। वस्तुकी दृष्टिसे भी आप सोचिये कि जिसकी लालसा आपको प्रिय है, उसका मिलन उतना प्रिय नहीं होता। कल्पना करें कि आपका कोई अभिन्न-मित्र विदेश गया है और वर्षोंसे आपके मनमें उसके मिलनेकी लालसा है। आपके पास यदि एकदम यह तार आये कि अमुक तारीखको वह आ रहा है, तार मिलते ही आपको बड़ा आनन्द होगा। आनन्द क्यों होगा ? मित्र तो आपको मिला नहीं, उसके साथ आपका वियोग तो ज्यों-का-त्यों है। आनन्द इसलिये होगा कि उस लालसाकी पूर्तिकी

सम्भावना हो गयी, आप निश्चित समयपर मित्रका स्वागत करने हवाई अड्डेपर पहुँच गये। जब हवाई जहाज दिखायी दिया तो उत्कण्ठा और तीव्र हो गयी और रस बढ़ता गया, उत्कण्ठा बढ़ती गयी। यह बात गम्भीरतासे सोचनेकी है कि जब कोई नयी उत्कण्ठा जीवमें पैदा होती है, तब इन्द्रियोंका सीमितभाव मिटता जाता है। अगर किसीको देखनेकी उत्कण्ठा है तो सब इन्द्रियाँ उस समय नेत्रमें आ जायँगी। अगर किसी बातको सुननेकी उत्कण्ठा है तो सब इन्द्रियोंकी शक्ति श्रोत्रमें आ जायगी। यह प्राकृतिक नियम है कि जब कोई उत्कण्ठा जाग्रत् होती है, तब सारी इन्द्रियाँ एक इन्द्रिय-सी बन जाती हैं। हवाई जहाजके उतरते ही उसमेंसे और यात्री उतरने लगे; लेकिन आपकी दृष्टि अपने ही मित्रपर है। जिस समय आप अपने मित्रसे मिलते हैं, मिलनका पहला क्षण जितना सुखद होता है, दूसरा क्षण उतना नहीं होता। तीसरा उतना नहीं रहता। दो दिनके बाद क्या, चार-छः घंटेके बाद ही आप कह सकते हैं कि तुम बड़े नालायक आदमी हो, तुमने इतने दिनोंसे पत्र ही नहीं लिखा; और सम्भव है कि कुछ दिनोंके बाद आपगमें झगड़ा भी हो जाय। कहनेका तात्पर्य यह है कि भौतिक दृष्टिसे भी आप देखें तो वस्तुकी उत्कण्ठा जितनी सरस होती है, व्यक्तिके मिलनकी लालसा जितनी मीठी होती है, वस्तुकी प्राप्ति उतनी सरस नहीं होती, व्यक्तिका मिलन उतना सरस नहीं होता। क्यों नहीं होता ? इसमें एक रहस्य है और वह रहस्य यह है कि यदि वस्तुका मिलन ही जीवन होता तो सरसता रहती; किंतु वस्तुका मिलन जीवन नहीं है, व्यक्तिका मिलन जीवन नहीं है। इसलिये प्रत्येक वस्तुसे, प्रत्येक व्यक्तिसे अतीतकी लालसा प्राणीमें मौजूद है। परंतु उस लालसाको हम वस्तुओंकी, व्यक्तियोंकी एवं परिस्थितियोंकी कामनामें बदलते रहते हैं। हम जानते नहीं कि हमारे जीवनमें किसकी लालसा है; किसकी जिज्ञासा है; परंतु यह बात तो प्रत्येक भाई जानता है कि वस्तुकी कामनासे हमारी तृप्ति नहीं हुई, वस्तुकी प्राप्तिसे हमारी तृप्ति नहीं हुई; व्यक्तिकी प्राप्तिसे हमारी तृप्ति नहीं हुई। जब हम एक पक्ष जानते हैं, तब कम-से-कम हमें यह भी जानना चाहिये कि हमारे जीवनमें कौन-सी ऐसी जिज्ञासा है, जो अभीतक पूरी नहीं हुई; कौन-सी ऐसी लालसा है, जो अभीतक जाग्रत् नहीं हुई। उस लालसा अथवा जिज्ञासाको हमें जाग्रत् करना है। हम चाहे और किसी बातमें पराधीन हों, लेकिन किसीकी लालसामें

तो पराधीन नहीं हैं। किसीकी लालसामें तो हम सब स्वाधीन हैं। एक बात आप पूछ सकते हैं कि लालसामें शिथिलता कब आती है? इसका उत्तर यह है कि या तो जिसकी हमें लालसा हो, उसका अस्तित्व न हो तब शिथिलता आयेगी। जो वस्तु है ही नहीं, उसकी लालसा हम व्यर्थ ही करते हैं; अथवा जिसकी हमें लालसा हो, उसके मिलनेकी सम्भावना न हो, तब लालसामें शिथिलता आती है। परंतु जिसका अस्तित्व है और जिसके मिलनेकी सम्भावना है, उसकी लालसामें कभी शिथिलता आ ही नहीं सकती। आप कहेंगे, 'अच्छा, भाई! हम मान लेते हैं कि वस्तुमें अतीत कोई जीवन नहीं है, तब तो आपका लालसावाला जीवन समाप्त हो जायगा? अच्छा भाई, अगर वस्तुसे अतीत कोई जीवन नहीं है, तो क्या आप इस बातको सिद्ध कर सकते हैं कि वस्तुमें जीवन है? तब आपको यह भी मानना पड़ेगा कि वस्तुमें भी जीवन नहीं है और आपने यह भी मान लिया कि वस्तुसे अतीतमें भी जीवन नहीं है तो उसका अर्थ यह है कि जीवन है ही नहीं। तब तो फिर मृत्युका आवाहन करना चाहिये, मृत्युसे प्यार करना चाहिये, जीवनकी लालसा नहीं रखनी चाहिये। लेकिन अपने जीवनकी लालसा कभी किसीने मिटती देखी है? नहीं देखी। इसलिये भाई! जीवन वस्तुमें अतीत है। युक्तिसे कोई सिद्ध नहीं कर सकता कि जीवन वस्तुमें अतीत नहीं है। अच्छा, कल्पनाके लिये हमने मान लिया कि जीवन नहीं है। तब फिर मृत्युका भय कैसा? और जब मृत्युका भय नहीं है, तब शरीरको रखनेकी आशा कैसी? और जब शरीरको रखनेकी आशा नहीं है तब बतइये, फिर कोई कामना कैसी? तब भी आपको कामनारहित ही होना है। अगर कोई व्यक्ति यह मान ले कि जीवन-जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, तब भी कामना-रहित होना है और यदि जीवन है, तब भी वस्तुओंसे कामनारहित होना है। किसी भी युक्तिसे आप यह सिद्ध नहीं कर सकते कि कामनाको रखना मनुष्यको अभीष्ट है।

किसी भी मानवको कोई भी कामना रखना अभीष्ट नहीं है। या तो उसको मिटाना अभीष्ट है या उसका पूरा करना अभीष्ट है। ऐसी स्थितिमें जो कामना मिट सकती है, उसको तो मिटा ही देना चाहिये और जो कामना नहीं मिट सकती हो, उसको तो महत्त्व नहीं देना है; क्योंकि कामनाकी पूर्ति किसी व्यक्तिके अधीन है क्या? मान लो, मैं बोलना चाहता हूँ; परंतु कोई सुननेवाला न हो तो? आपको यह मानना पड़ेगा कि कामना-पूर्तिमें व्यक्ति स्वाधीन नहीं है। ऐसी स्थितिमें जिसकी पूर्तिमें हम स्वाधीन नहीं हैं, उसको इतना महत्त्व देना, जितना हम आज दे रहे हैं, क्या आवश्यक

है? विस्फुल आवश्यक नहीं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जिसके करनेमें आप स्वाधीन हैं, उससे निराश हो जायें तो क्या यह कोई प्राकृतिक दोष है? यह प्राकृतिक दोष नहीं है। यह व्यक्तिगत दोष है। कामना-निवृत्तिसे, जिसमें हम स्वाधीन हैं, हम निराश हो बैठे हैं और कहते हैं—'महाराज! कामनाओंका त्याग बड़ा कठिन है।' अच्छा, भाई! तो कामना-पूर्ति सुगम है? आप जीवनकी अनेक घटनाओंसे और अपनी अनुभूतिसे भलीभाँति जानते हैं कि छोटी-से-छोटी कामनाकी पूर्तिमें भी प्राणी स्वाधीन नहीं है; क्योंकि जिन साधनोंसे कामना पूरी होगी, वे सभी साधन आपसे भिन्न हैं। उदाहरणके लिये, मैं इस हाथको यहाँ रखना चाहूँ तो जयतक आपके हाथमें उसे कहीं भी रखनेकी सामर्थ्य है, तभीतक आप उसे यहाँसे वहाँ रख सकते हैं। किंतु ऐसी परिस्थिति भी आती है, जब कि आप हाथ उठाना चाहते हैं और उठा नहीं सकते। अतः यदि हम पहलेसे ही सोच लें कि जों बात हम नहीं कर सकते, उसको हम नहीं करेंगे, तो बतइये, इससे हमारी क्या हानि हो जायगी? हमारे लिये क्या कठिनाई आ जायगी? जो बात आप नहीं कर सकते, उसे करनेकी चाह आपके मनमें पैदा हुई है, तभी न आपको दुःखका अनुभव होगा! आपका हाथ यदि उठ नहीं सकता तो कहिये उस हाथमें कि 'तुम तो बड़ा ही नाज करते थे कि हम यह कर सकते हैं, वह कर सकते हैं; परंतु देखो, तुम्हारी आज क्या दशा है? अब तो तुम्हें पता चला कि तुम कुछ नहीं कर सकते।' अतः जब हम कुछ नहीं कर सकते और करनेकी बात सोचते हैं, तभी हमारे-आपके जीवनमें दुःख आता है, एक अभाव आता है। किंतु जब हम कुछ कर नहीं सकते और वैसी स्थितिमें यदि हम कुछ भी करनेकी बात न सोचें, क्या तब भी दुःख होगा? जो काम आप नहीं कर सकते, उसे यदि आप नहीं करना चाहते तो आपके जीवनमें कोई अशान्ति नहीं आती। अशान्ति तभी आती है, जब हम कुछ करना चाहते हैं और उसे नहीं कर सकते। फिर भी आप कहेंगे—'भाई! तब भी तो करनेकी रुचिका नाश नहीं हुआ।' 'अच्छा भाई! करनेकी रुचिका नाश नहीं हुआ तो जो कर सकते हो, उसे करके तुमने देख लिया। जो कर सकते हो, उसे करो नहीं और जो कर न सको, उसे त्यागो नहीं—यही तो हमारे जीवनकी एक परिस्थिति है। इसी परिस्थितिमें तो हम और आप पराधीनताका, जड़ताका और अभावका अनुभव करते हैं। आप कहेंगे कि 'जो नहीं कर सकते, उसको करनेमें जो सुख मिलता, वह न करनेसे नहीं मिलेगा।' तो भाई! करनेमें जो सुख मिलता, वह सदैव नहीं रहता। तब क्या करोगे? क्या इस बिधानको बदल दोगे? मुझे बोलनेमें जो सुख होता

है, वह बोलते-बोलते थक जानेपर रहेगा ? बोलनेकी प्रवृत्ति रहेगी ? नहीं रह सकती । तो जब करनेकी प्रवृत्ति ही नित्य नहीं है, तब करनेके लिये परेशान क्यों होते हैं ? और जब करनेके लिये आप परेशान नहीं हैं, तब न करनेमें आपको क्या कठिनाई है ? और जब आपको कुछ न करनेमें कठिनाई नहीं होगी, तब आपको विश्राम मिलेगा और जब आपको विश्राम मिलेगा, तब आप सच मानिये, विश्राम-कालमें किसी परिस्थितिसे किसीका भी सम्बन्ध नहीं रहता । परंतु दुःखकी बात तो यह है कि आज हमें सही करना नहीं आया तो विश्राम भी करना नहीं आया और होता यह है कि जब हम विश्राम करते हैं, तब कमरेकी दीवाल ताकते रहते हैं, या जड़तामें स्थित रहते हैं । तो भाई ! न तो जड़तामें स्थित रहना है और न निरर्थक चेष्टा करनी है । जब हम निरर्थक चेष्टा नहीं करेंगे, तब अपने-आप बिना किसी श्रमके समस्त इन्द्रियों मनमें विलीन होंगी, मन बुद्धिमें विलीन होगा और बुद्धि सम हो जायगी । आज यदि हमारी बुद्धि सम नहीं होती, बड़े-बड़े बुद्धिमानकी भी बुद्धि सम नहीं होती, तो इसका एकमात्र कारण यह है कि निरर्थक चेष्टाके बिना हम रह नहीं पाते । कुछ नहीं तो आसमानको ही ताकेंगे, और नहीं तो बेकार बात ही सोचेंगे । इसमें तो हम थकते नहीं, परंतु इसपर यदि कोई कहे, 'भैया ! तुम्हें मालूम नहीं कि जो तुम चाहते हो, वह श्रम-रहित होनेसे मिलेगा, या जो तुम चाहते हो उसकी लालसा जाग्रत् करो, उसकी जिज्ञासा जाग्रत् करो ।' हमारे जीवनमें कितनी देर जिज्ञासा रहती है, कितनी देर लालसा रहती है और कितनी देर व्यर्थ-चिन्तन रहता है ? इसपर और ठीक-ठीक निर्णय करें । यदि हम और आप अपने जीवनको देखें तो पता चलेगा कि जिज्ञासा, लालसा और व्यर्थ-चिन्तन ही अधिक देर रहते हैं, तब अप्राप्त परिस्थितिका आवाहन बना रहता है, अप्राप्त वस्तुका आवाहन बना रहता है और अप्राप्त व्यक्तिका आवाहन बना रहता है । प्राप्त वस्तुका तो हमने सदुपयोग नहीं किया, प्राप्त व्यक्तिकी तो हमने सेवा नहीं की, उसे प्यार नहीं किया और जब अमुक व्यक्ति आयेगा, तब हमारे हृदयमें प्यार पैदा होगा—यह सोचना क्या कोई मनुष्यताकी बात है ? क्या यह कोई बुद्धिमानकी बात है कि आप प्रत्येक व्यक्तिको प्यार नहीं कर सकते, प्राप्त वस्तुका सदुपयोग नहीं कर सकते ? प्रत्येक व्यक्तिको हम कैसे प्यार कर सकते हैं; क्योंकि वह तो हमारा अपना नहीं है । अजी बड़े-बड़े सत्सङ्गियोंतकको यह कहते देखा जाता है कि 'अरे, ये तो हमारे स्वामीजी नहीं हैं', इत्यादि । अच्छा भाई ! तुम्हारे स्वामीजी नहीं हैं, तो जो भी हैं, क्या उनसे

काम ले सकते हो ? तात्पर्य यह कि आप जो यह सोचते हैं कि जो व्यक्ति हमारे सामने है, उसको तो हम प्यार नहीं देंगे, उसकी तो हम सेवा नहीं करेंगे और जो व्यक्ति मौजूद नहीं है, उसका हम चिन्तन करेंगे । तो भाई ! आपकी शान्ति सुरक्षित नहीं रह सकती । हाँ, अगर आपको व्यक्ति और वस्तुसे अरुचि हो गयी है तो आपका शरीर भी एक वस्तु है और आप भी एक व्यक्ति हैं और आपको अपनेसे भी अरुचि होनी चाहिये । त्यागका अर्थ यह है कि अपना त्याग करें । प्रेमका अर्थ यह है कि हम सभीसे प्रेम करें । त्यागका अर्थ यह नहीं है कि हम अमुक चीजका तो त्याग कर देंगे, अमुकको नहीं । यदि कोई कहे कि 'सबसे तो हम अलगा हो गये, एक शरीरको लेकर कुटियाके अंदर बंद कर दिया और हम त्यागी हो गये', तो मैं कहूँगा कि 'इस प्रकार तो तुम्हारे बाप भी त्यागी नहीं हो सकते ।' यदि पूछो, 'क्यों त्यागी नहीं हो सकते !' तो कहना होगा कि आपने अपना त्याग नहीं किया । भाई मेरे ! त्याग करना हो तो अपना त्याग करो । प्रेम करना हो तो सभीसे प्रेम करो । यदि अपने आपका त्याग नहीं कर सकते तो आप संसारका कभी त्याग नहीं कर सकते । तो आज दशा यह है कि हम त्यागमें भी पराधीन हो गये, आज हम प्रेममें भी पराधीन हो गये और भाई ! भोगमें तो हम सभी पराधीन हैं ही । तो फिर जिसमें सभी पराधीन हैं, उसमें यदि हम भी पराधीन हैं तो हम अपनेको कोसते क्यों हैं ? और भाई ! यदि सभीके मनकी बात पूरी नहीं हुई और हमारे भी मनकी बात पूरी नहीं हुई तो हम अपने लिये एक नया विधान क्यों चाहते हैं ? कहनेका तात्पर्य यह कि जिसमें हम पराधीन हैं, उसमें सभी पराधीन हैं और जिसमें हम स्वाधीन हैं, उसमें सभी स्वाधीन हैं । तब पराधीनता कबतक है ? जबतक हम उसे करना चाहते हैं, जो नहीं कर सकते, तभीतक पराधीनता है । जिस समय हमने-आपने निर्णय कर लिया कि जो नहीं कर सकते, उसे नहीं करेंगे; त्याग करेंगे तो अपना भी त्याग कर देंगे और प्रेम करेंगे तो सभीसे प्रेम करेंगे । इन तीन बातोंसे हमारी-आपकी शान्ति सुरक्षित रह सकती है और शान्तिके सुरक्षित रहनेसे आवश्यक सामर्थ्यका विकास होगा और आवश्यक सामर्थ्यका विकास होनेपर स्वाधीनता प्राप्त होती है । स्वाधीनता प्राप्त होनेसे चिन्मयता प्राप्त होती है और चिन्मयता प्राप्त होनेसे हम परिस्थितियोंसे अतीतके जीवनको प्राप्त कर लेते हैं—ऐसा मेरा अनुभव है, या विश्वास, जो कुछ कहें, आप कह लीजिये ।

ओंकारकी सर्वरूपता

(लेखक—श्रीप्रमुदतजी ब्रह्मचारी)

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य
सम्प्राप्तवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि
संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार
पवेदः सर्वमोंकार पवेदः सर्वम् ॥

(छा० उ० २ । २३ । ३)

यह जगत् तपद्वारा ही उत्पन्न हुआ है और तपमें ही स्थित है । समस्त साधनोंका सार तप ही है । श्रीमद्भागवतमें इस विषयका विशदरूपसे वर्णन किया गया है । भगवान्की नामसे एक कमल उत्पन्न हुआ । उस कमलसे समस्त प्रजाके पति लोक-पितामह ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई; ब्रह्माजी कमलपर बैठकर विचार करने लगे । उन्हें चारों ओर देखनेकी इच्छा हुई, तब उनके चारों दिशाओंमें चार मुख उत्पन्न हो गये । चतुर्भुज ब्रह्मा कमलपर बैठकर सोचने लगे—‘यह कमल कहाँसे उत्पन्न हुआ है, इसके आदि-अन्तका पता लगाना चाहिये’ । अतः वे कमल-चालमें घुसकर सहस्रों वर्षपर्यन्त उसका उद्गम खोजते रहे; किंतु वह तो अनादि-अनन्त था, अतः थककर पुनः ब्रह्माजी कमलपर आ बैठे । सोचने लगे—‘मेरी उत्पत्ति सृष्टि करनेके निमित्त हुई है, अब मैं सृष्टि करूँ ! किंतु कोई साज नहीं, सामान नहीं ।’ जब ब्रह्माजी इसी चिन्तामें निमग्न थे, तभी उन्हें न जाने कहाँसे दो अक्षर सुनायी दिये । एक तो व्यञ्जनोंका सोलहवाँ अक्षर ‘त’ था और दूसरा व्यञ्जनोंका इक्कीसवाँ अक्षर ‘प’ था । दोनोंके मेलसे ‘तप’ शब्द बना । यह ‘तप’ शब्द दो बार सुनायी दिया ‘तप-तप’ । अर्थात् ‘तपस्या करो, तपस्या ।’ इस तपके कारण ही ज्ञानी ब्रह्माजीको ‘तपोधन’ कहते हैं । अर्थके लिये जो ‘धन’ शब्दका प्रयोग किया जाता है, वह तो असत्य है । अर्थ तो अनर्थका कारण है । अर्थके साथ पंद्रह

अनर्थ लगे रहते हैं । वास्तविक धन तो तप ही है । ब्रह्माजी सोचने लगे—‘यह ‘तप-तप’ कौन कह रहा है ?’ वे चारों ओर कहनेवालेको खोजने लगे, किंतु उन्हें कोई दिखायी नहीं दिया । तब वे सोचने लगे—‘उन अचिन्त्य महिमावाले आदिप्रभुने मुझे तप करनेका आदेश दिया है, अतः मुझे तप करना चाहिये ।’ यह सोचकर उन्होंने उस कमलपर बैठे-बैठे ही सहस्र दिव्य वर्षोंतक तप किया । ब्रह्माजीके सदृश तप कौन कर सकता है ? वे सबसे बड़े तपस्वी हैं । वे अमोघ ज्ञानसम्पन्न हैं । उनकी तपस्या ध्यानमय है, ज्ञानमय है । तपस्याके द्वारा वे समस्त लोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो गये । उनके ध्यानरूप तपका परिणाम यह हुआ कि वे छः नीचेके लोकोंसहित भूलोक, अन्तरिक्षलोक और पाँच स्वर्गलोकोंको प्रकाशित करनेमें समर्थ हो गये ।

सूतजी कहते हैं—‘सुनियो ! पुण्यलोकोंकी प्राप्तिका साधन बताकर अब अमृतत्व-प्राप्तिका—मोक्षकी प्राप्तिका साधन बताते हुए भगवती श्रुति कहती हैं—‘तप ही समस्त साधनोंका सार है । शुद्ध तत्त्वकी प्राप्ति तपसे ही होती है ।’

शौनकजीने पूछा—सूतजी ! तपसे सार वस्तुकी प्राप्ति कैसे होती है ?

सूतजीने कहा—‘भगवन् ! जो वस्तु उत्पन्न होती है, वह समल ही होती है—मलके बिना उत्पत्ति सम्भव ही नहीं । उत्पन्न होनेपर तपके द्वारा उसमेंसे मल पृथक् करके उसे निर्मल—सारभूत बनाया जाता है । खानसे जो सोना उत्पन्न होता है, वह मलसहित ही होता है । फिर अग्निद्वारा उसे तपाकर उसके मलको पृथक् किया जाता है । निर्मल सारभूत रह जानेपर

तब उससे दिव्य आभूषण बनाये जाते हैं। तपद्वारा ही वह शुद्ध किया जाता है।

ईश्वरसे जो रस निकलता है, वह समल होता है। अग्निमें तपाकर उसमेंसे मल निकालकर उससे गुड़ बनाते हैं। फिर गुड़को तपाकर, उसके मलको पृथक् करके खौँड़ बनाते हैं। खौँड़को तपाकर, उसका मल निकालकर बूरा बनाते हैं। बूरेको तपाकर, उसे निर्मल बनाकर उससे खच्छ, निर्मल, सारभूत मिश्री बनती है। मिश्री समस्त मधुर वस्तुओंका सार है, खच्छ है—निर्मल है। वह निर्मलता तपानेसे—तपके कारण ही हुई। इसी प्रकार ब्रह्माजीने तपद्वारा लोकोंका ज्ञान प्राप्त किया, फिर उस ज्ञानको तपाया। परमात्माका ज्ञान ही 'तप' है। जब ब्रह्माजीको लोकोंका ज्ञान हो गया, तब उन लोकोंको पुनः अभितप्त किया—तपाया। तब उनके सारभूत ऋक्, यजु और साम, इस त्रयीविद्याकी उत्पत्ति हुई। फिर इस त्रयीविद्याको भी ज्ञानमय तपसे पुनः तपाया, तब उन तीनोंका सार तीनों व्याहृतियोंके रूपमें प्रकट हुआ। अर्थात् तीनों वेदोंका सार भूः, भुवः और स्वः—ये तीन व्याहृतियाँ हैं। ये ऋक्, यजु और सामकी सारभूता हैं। तीनों वेदोंको

तपानेके बाद प्रकट हुआ उनका निर्मल रूप व्याहृतियाँ हैं।

ब्रह्माजीने इन तीनों व्याहृतियोंको फिरसे तपाया। उनके सारसे ही अकार, उकार तथा मकाररूप ओंकार—प्रणवकी उत्पत्ति हुई। यह ओंकार ही सम्पूर्ण वाक्में व्याप्त है। उदाहरणके लिये आप पीपलके पत्तेको ले लीजिये। उसे ध्यानसे देखिये, उसमें छोटी-बड़ी नसें-ही-नसें व्याप्त हैं। यदि उन नसोंको निकाल दें तो पत्तेका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। उन नसोंके अस्तित्वसे ही पत्तेका अस्तित्व है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वाणी 'अ', 'उ' और 'म' के सम्मिश्रणसे बने प्रणवद्वारा व्याप्त है। यह जो दृश्य-प्रपञ्च है, यह ओंकारके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जो भी कुछ दृश्य है, श्रव्य है, मननीय है, वह सब-का-सब ओंकार ही है। ओंकार ही सर्व है, ओंकार ही सर्व है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! यह मैंने ओंकारकी सर्वरूपताका वर्णन किया। ओंकार-उपासनासे ही अमृतत्वकी प्राप्ति हो सकती है। ओंकार ही मुक्तिपदको प्राप्त करानेवाला है।

सरन बृषभानु की किसोरी कौ

काहू कौ सरन संभु-गिरिजा, गनेस-सेस,
काहू कौ सरन है कुबेर-पेसे धोरी कौ।
काहू कौ सरन मच्छ-कच्छ, वलराम-राम,
काहू कौ सरन गौरी-साँवरी-सी जोरी कौ ॥
काहू कौ सरन बोध, वामन, वराह, व्यास,
एही निराधार सदा रहै मति मोरी कौ।
आनँद करन विधि-बंदित-चरन एक,
'हठी' कौ सरन बृषभानु की किसोरी कौ ॥

श्रीश्रीराधा-महिमाका स्मरण

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा श्रीश्रीराधाजन्माष्टमी-महोत्सवपर गीतावाटिका, गोरखपुरमें दिये गये एक प्रवचनका कुछ अंश]

आज भाद्रशुक्ल अष्टमी श्रीराधाजन्माष्टमी है। आजके ही मङ्गलमय दिवस साक्षात् सच्चिदानन्दरसविग्रहा, आनन्दांशधनीभूता, आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविता, मन्मथ-मन्मथ-मन्मथा, परमानन्द-परमानन्ददायिनी, रसिकेन्द्र-शिरोमणि-रस-प्रदायिनी, रसिकेन्द्रेश्वरी, साक्षात् ह्यादिनी श्रीराधाकाजीका उनकी ननिहालरावल ग्राममें मङ्गलमय प्राकट्य हुआ था। परम और चरम त्यागका, सर्वसमर्पणमय उज्ज्वलतम प्रेमका, स्व-सुखवाञ्छा-विरहित प्रियतम-सुखेच्छामय स्वभावका और अहंकी चिन्ता, मङ्गलकामना ही नहीं, अहंकी स्मृतिसे भी शून्य प्रियतम-स्मृतिमय जीवनका कैसा स्वरूप होता है—श्रीराधाने अपनेप्रत्यक्ष जीवनसे इसका एक नित्य चेतन, क्रियाशील, मूर्तिमान् उदाहरण उपस्थित करके जगत्के इतिहासमें एक अभूतपूर्व दान दिया है। इस महान् दानका मङ्गलमूल आजका ही मङ्गलमय दिन है। इसलिये यह दिन धन्य है, यह भारतवर्ष धन्य है और इसके निवासी हमलोग भी धन्य हैं, जो आज श्रीराधाके प्राकट्य-महोत्सवके उपलक्ष्यमें उसका मङ्गलमय स्मरण कर रहे हैं। ये श्रीराधाजी क्या हैं, इसका वास्तविक उत्तर तो वे स्वयं या उनके अभिन्नस्वरूप परमात्मा श्रीकृष्ण ही दे सकते हैं। हमलोग तो श्रीराधा-रानीका किंचित्-सा स्मरण करके धन्य हो जाते हैं।

साधन-जगत्में प्रधानतया उत्तरोत्तर विलक्षण चार राज्य हैं—१. कर्मराज्य, २. भावराज्य, ३. ज्ञानराज्य और ४. महान् परम भावराज्य। इसीके अनुसार साधकोंके स्वरूप हैं, साध्य-स्वरूप हैं और दिव्य लोकादि हैं। कर्मप्रवण पुरुष कर्मराज्यमें श्रौत-स्मार्त वैध कर्मोंके द्वारा कर्मसाधन करते हैं। सकामभाव होनेपर स्वर्गादि पुनरावर्ती लोकोंमें जाते हैं और सर्वथा कामनारहित होनेपर 'नैष्कर्म्यसिद्धि' को प्राप्त होते हैं। इनके तत्त्वज्ञानकी स्थितिमें लोककी कल्पना नहीं है और कर्मतत्त्वकी दृष्टिसे सृजन-पालन-संहार करनेवाले सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता ईश्वरके सांनिध्यमें इनका कर्मजगत्में कार्य चलता रहता है। इनमें कोई-कोई साधक सिद्धि प्राप्त करके ब्रह्माके पदतक पहुँच जाते हैं और मूल परम तत्त्वके अंशावतार विभिन्न ब्रह्माण्डाधिपति

सृजनकर्त्ता ब्रह्मा, पालनकर्त्ता विष्णु तथा संहारकर्त्ता रुद्रोंमें कहीं 'ब्रह्मा' का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं।

इससे उच्चतर या आगे 'भावराज्य' है, वहाँ कर्मके साथ केवल निष्कामभावकी प्रधानता न होकर ईश्वर-प्रीतिसाधक भक्तिकी प्रधानता होती है। भावुक पुरुष इस भावराज्यके क्षेत्रमें भावसाधनाके द्वारा अपने भावानुरूप इष्टदेव, परमैश्वर्य-सम्पन्न, स्वशक्तियुक्त भगवत्स्वरूपोंके सांनिध्य और उनके दिव्य लोकोंको प्राप्त करते हैं। इनकी साधनाका फल दिव्य भगवत्लोकोंकी प्राप्ति है। ये भी सर्वथा मायासुक्त होते हैं।

इससे आगे 'ज्ञानराज्य' है। इसमें विचार-प्रधान पुरुष साधन-चतुष्टयादिके द्वारा महावाक्योंका अनुसरण करके विशुद्ध आत्मस्वरूपमें परिनिष्ठित होते हैं। इनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। ये ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं या ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त करते हैं।

इससे आगे एक महाभावरूप 'भगवद्भाव-राज्य' है। मुक्ति-मुक्ति, कर्म-ज्ञान आदिकी वासनासे शून्य पुरुष ही इस परम 'भावराज्य'के अधिकारी होते हैं। उपर्युक्त तत्त्वज्ञानी मुक्त पुरुषोंमें भी किन्हीं-किन्हींमें भगवत्प्रेमाङ्कुरका उदय हो जाता है, जिससे वे दिव्य शरीरके द्वारा उपर्युक्त कर्म-भाव-ज्ञान-राज्यसे अतीत भगवद्भाव-राज्यमें प्रवेश करके प्रियतम भगवान्के साथ लीलाविहार करते हैं या उनकी लीलामें सहायक-सेवक होकर उनके सुखमें ही अपने भिन्न स्वरूपको विसर्जितकर नित्य-सेवा-रत रहते हैं। परंतु भोग-मोक्षकी कामना-गन्ध-लेहसे शून्य, सर्वात्मनिवेदनकारी महानुभावोंका ही इसमें प्रवेश होता है, चाहे वे पवित्र त्यागमय प्रेमस्रोतमें बहते हुए सीधे ही यहाँ पहुँच जायँ, अथवा उपर्युक्त ज्ञानराज्यमें ज्ञान प्राप्त होनेके अनन्तर किसी महान् कारणसे इस सर्वविलक्षण महाभावरूप परम दुर्लभ राज्यमें प्रवेश प्राप्त करें।

इस भावराज्यमें नित्य-निरन्तर भावमय सच्चिदानन्दधन दिव्य प्रेमरस-स्वरूप श्रीराधाकृष्णका भावमय नित्य लीला-

विहार होता रहता है। गोपीप्रेमकी उच्च स्थितिपर पहुँचे हुए गोपीहृदय महापुरुष तथा श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा नित्य-सिद्धा तथा विविध साधनोंद्वारा यहाँतक पहुँची हुई अन्यान्य गोपाङ्गनाओंका उसमें नित्य सेवा-सहयोग रहता है। इसीको 'गो-लोक' या 'नित्य प्रेमधाम' भी कहते हैं। यह 'भाव-राज्य' ज्ञानराज्यसे आगे या उससे उच्च स्तरपर स्थित है। प्रेमी महानुभावोंने तो भगवत्कृपासे 'स्वयं-भगवान्' श्रीकृष्णके द्वारा सखा भक्त अर्जुनके प्रति उपदिष्ट गीतामें भी इसके संकेत प्राप्त किये हैं। कुछ उदाहरण देखिये—तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, ज्ञान-ज्ञेयके स्वरूपका वर्णन किया। उसमें सर्वत्र व्याप्त सगुण-निराकार तथा ज्ञानगम्य ब्रह्मस्वरूपका उपदेश करनेके बाद वे कहते हैं—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥

(१३ । १८)

“इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान एवं ज्ञेय संक्षेपमें कहा गया। इस क्षेत्र-ज्ञान-ज्ञेयको जानकर मेरा भक्त मेरे भावको प्राप्त होता है।”

चतुर्थ अध्यायमें भगवान् कहते हैं—

वीतरागभयक्रोधा मन्मथा मामुपाश्रिताः ।

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥

(४ । १०)

“बहुत-से राग-भय-क्रोधसे रहित, ज्ञानरूप तपसे पवित्र, मुझमें तन्मय, मेरे आश्रित पुरुष मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं।”

अठारहवें अध्यायमें स्पष्ट शब्दोंमें भगवान्ने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

(१८ । ५४-५५)

‘ब्रह्मभूत होकर प्रसन्नात्मा पुरुष न तो शोक करता है न आकाङ्क्षा करता है; अर्थात् वह ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होकर शोक-कामनासे रहित प्रसन्नात्मा—आनन्दस्वरूप हो जाता है तथा सब भूतोंमें सम हो जाता है; तब वह मेरी परामत्तिको प्राप्त करता है। उस भक्तिसे यानी परा ज्ञाननिष्ठासे जैसा और

जो कुछ मैं हूँ, उस मुझको तत्त्वसे जानकर तदनन्तर मुझमें प्रवेश कर जाता है।’ अभिप्राय यह है कि ब्रह्मस्वरूप समदर्शी शोकाकाङ्क्षारहित उच्च स्थितिपर पहुँच जानेपर भी भगवान्ने ‘यः यावान्’ स्वरूपका ज्ञान और उस भावराज्यमें प्रवेश शेष रह जाता है; जो परामक्ति—प्रेमामक्तिसे ही सिद्ध होता है।

इस परामक्तिसे भगवान्ने जिस स्वरूपका ज्ञान होकर जिस भावराज्यकी लीलामें प्रवेश प्राप्त होता है, भगवान्का वह स्वरूप भी अद्वय अक्षर ज्ञानतत्त्व ब्रह्मसे (तत्त्वतः एक होनेपर भी) असाधारण विलक्षण है। इसका भी संकेत गीताकी भगवद्वाणीमें स्पष्ट है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्ध्ये ।

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

(७ । ३)

‘सहस्रों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिके लिये—तत्त्वज्ञानके लिये प्रयत्न करता है। उन यत्न करते हुए सिद्ध-सिद्धि-प्राप्त पुरुषोंमें कोई एक मुझको तत्त्वसे जानता है।’ यहाँके ‘तत्त्वतः वेत्ति’से उपर्युक्त ‘तत्त्वतः अभिजानाति’का और यहाँके ‘सिद्ध’से उपर्युक्त श्लोकके ‘ब्रह्मभूतः’का सर्वथा साम्य है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानतत्त्व ब्रह्मकी अपेक्षा ‘मां’ शब्दके वाचक भगवान् विलक्षण हैं।

पंद्रहवें अध्यायमें दो प्रकारके पुरुषोंका वर्णन करते हुए भगवान् अपनेको ‘क्षर’ पुरुषसे अतीत और ‘अक्षर’ पुरुषसे उत्तम ‘पुरुषोत्तम’ बताते हैं और इसे ‘गुह्यतम’ कहते हैं। ‘अक्षर’ क्या है, यह भगवान्ने शब्दोंसे ही स्पष्ट है—‘अक्षरं ब्रह्म परमम्’ (८ । ३) ‘परम ब्रह्म अक्षर है’।

इससे भी अत्यन्त स्पष्ट भगवान्की उक्ति है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

(१४ । २८)

‘अव्यय ब्रह्म, अमृत, नित्य धर्म और ऐकान्तिक सुख—(ये चारों ब्रह्मके वाचक हैं) की मैं ही प्रतिष्ठा हूँ।’

इससे सिद्ध है कि ज्ञानराज्यसे यह महा ‘भावराज्य’ विलक्षण है और ज्ञानगम्य ज्ञानतत्त्व ‘ब्रह्म’से भगवान् ‘श्रीकृष्ण’ विलक्षण हैं।

ज्ञानतत्त्वमें परिनिष्ठित ब्रह्मीभूत महात्मा, अर्थात् जिनकी अज्ञान-ग्रन्थि टूट चुकी है—ऐसे आत्माराम मुनि भी भगवान्की अहैतुकी भक्ति करनेको बाध्य होते हैं; क्योंकि भगवान्में ऐसे ही विलक्षण स्वरूपभूत गुण हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्मे ।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥

(श्रीमद्भागवत १ । ७ । १०)

इसीसे भगवान् श्रीकृष्णका एक सुन्दर नाम है—
‘आत्मारामगणाकर्षी’ ‘आत्माराम मुनिगणोंको आकर्षित करनेवाले’ ।

कुन्तीदेवीने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।

भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥

(श्रीमद्भागवत १ । ८ । २०)

‘आप अमलात्मा—विशुद्ध-हृदय परमहंस मुनियोंको भक्तियोग प्रदान करनेके लिये प्रकट हुए हैं । फिर हम अस्पृष्ट स्त्रियाँ आपको कैसे जान सकती हैं ?’

इसीसे शानी महात्मा पुरुष मुक्तिका निरादर करते हैं और भक्तिनिष्ठ रहना चाहते हैं—‘मुक्ति निरादर भगति छुमाने ।’ मुक्ति उनके पीछे-पीछे घूमती है, पर वे उसे स्वीकार नहीं करते; क्योंकि वे संसारके मायाबन्धनसे तो सर्वथा मुक्त हैं ही, भगवान्के प्रेमबन्धनसे मुक्ति उन्हें कदापि इष्ट नहीं । ऐसे प्रेमी भक्त जिन भगवान्को प्रेमरसास्वादन कराते हैं और स्वयं जिनके मधुरातिमधुर दिव्य प्रेममुधा-रसको प्राप्त करते हैं, वे भगवान् निस्संदेह ही सर्वतत्त्वविलक्षण हैं ।

इन भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा है श्रीराधारानी—

आत्मा तु राधिका तस्य तथैव रमणादसौ ।

आत्माराम इति प्रोक्तो मुनिभिर्गूढवेदिभिः ॥

(स्कन्दपुराण)

“श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं, उनके साथ सदा रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ शानी पुरुष श्रीकृष्णको ‘आत्माराम’ कहते हैं ।” इसी प्रसङ्गमें भगवान्की महिषी श्रीकालिन्दीजी कहती हैं—

‘आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।’

‘आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा निश्चय ही श्रीराधाजी हैं ।’ इन श्रीराधा-माधवका वह भावराज्य अतिशय उज्ज्वल है । वहाँ प्रिया-प्रियतमकी अचिन्त्य अमल मधुरतम लीला नित्य चलती रहती है । ‘अक्षर कूटस्थ ब्रह्म’ जिनकी पद-नख-ज्योति हैं और जो ब्रह्मके आधार हैं, उन परात्पर श्यामसुन्दरका वहाँ लीलाविहार निरन्तर होता रहता है । वह लीलाका महान् मधुर सागर अत्यन्त शान्त होनेपर भी सदा उछलता रहता है । स्वयं नटनागर ही विविध मनोहारिणी भावलहरियाँ बनकर खेलते रहते हैं । उस भावराज्यमें ज्ञान-विज्ञान छिपे रहकर रसिकेन्द्र-शिरोमणि रसरूप भगवान् श्यामसुन्दरके द्विधा रूप श्रीराधा-माधवका और श्रीराधाकी कायव्यूहरूपा श्रीगोपाङ्गनाओंका मधुरतम लीला-रस-रङ्ग देखते रहते हैं । जो ज्ञानी-विज्ञानी महात्मा इस भावराज्यमें पहुँचते हैं, उनके वे ज्ञान-विज्ञान यहाँ अपने ही दुर्लभ फलका सङ्ग पाकर परम प्रफुल्लित हो जाते हैं । ज्ञान-विज्ञानके अधिष्ठातृ-देवता सदा अटुप्त ही रहते हैं; क्योंकि उन्हें लीलारसका पान करनेके लिये कभी अवसर ही नहीं मिलता । पर प्रेममय शानी पुरुषोंके साथ वे जब यहाँ पहुँचते हैं, तब रसदर्शनके लिये वे छिप जाते हैं और अपने ही परम फलस्वरूप श्रीराधा-कृष्णकी रसमयी चिन्मय अविरल केवलानन्दरस-मुधा-प्रवाहिणी लीला देख-देखकर अपूर्व अतुलनीय आनन्दलाम करते और कृतकृत्य होते हैं; ज्ञान-विज्ञानका जीवन यहाँ सार्थक हो जाता है । वे चुपचाप छिपे हुए रस-पान करते रहते हैं, कभी भी प्रकट होकर लीला-रसमें विघ्न नहीं डालते; क्योंकि इस प्रेम-रसमें ज्ञानकी खटाई पड़ते ही यह फट जाता है । वहाँ इसमें अलौकिक लीलाकी अनन्त मधुर तरंगें नित्य उठती रहती हैं । यह वही रस है, जो सभी रसोंका उद्गमस्थान नित्य महान् परम मधुर रस है । वस्तुतः निरतिशय रसमय श्रीभगवान् ही यहाँ महाभाव-परिनिष्ठित होकर रसरूपमें भी प्रकट रहते हैं । देवता, भाग्यवान् असुर, किन्नर, ऋषि, मुनि, पवित्र तपस्वी, परम पवित्र सिद्ध पुरुष—सभी इसके लिये ललचाते रहते हैं; पर इसे पाना तो दूर रहा, इस मनभावन रसमय

भावराज्यको वे देख भी नहीं पाते। कर्म-कुशल कर्मी, समाधिनिष्ठ योगी और छिन्नग्रन्थि ज्ञानी पुरुष इस रसमय भावराज्यकी कल्पना भी नहीं कर पाते, इसका अर्थ ही उनकी समझमें नहीं आता। इसीसे वे इसकी अवहेलना करते हैं। इस भावराज्यमें निवास करनेवाली रसलीला-निरत, रस-सेवाकी जीती-जागती मूर्ति जो परम श्रेष्ठ दिव्य सखी, सहचरी, मंजरियाँ हैं, अति भद्राके साथ जो उनकी चरण-रजका सेवन करता है, जो तर्कह्य साधक अपने रसयुक्त हृदयको भावराज्यके उल्लसल भावोंसे भरता रहता है, जो तुच्छ घृणित भोगोंसे और कैवल्य मोक्षसे सदा विरक्त रहता है और जिसका हृदय निरन्तर भावराज्यके आराध्यस्वरूप श्रीराधा-माधवके चरणोंमें ही आसक्त रहता है, वही भावराज्यके किसी महान् जनका— किसी मञ्जरीका कृपाकण प्राप्त कर सकता है, और वही जन इस परम भावराज्यकी सीमामें प्रवेश कर सकता है।

नित्य रासेश्वरी, नित्य निकुञ्जेश्वरी श्रीराधा और उनके प्रियतम श्रीकृष्णमें तनिक भी भेद नहीं है। पर लीला-रसास्वादनके लिये श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता परमाह्लादिनी श्रीराधा सदा श्रीकृष्णका समाराधन करती रहती हैं और श्रीकृष्ण भी उनका प्रेमाराधन करते रहते हैं। रस-सुधा-सागर ये श्रीराधा-माधव एक ही तत्त्वमय शरीरके दो लीलास्वरूप बने हुए एक-दूसरेको आनन्द प्रदान करते रहते हैं।

आनन्दकी अह्लादिनि स्मामा अह्लादिनिके आनन्द स्माम।
सदा सरबदा जुगल एक मन एक जुगल तन बिलसत धाम ॥

इनमें परकीया-स्वकीया लीला भी वस्तुतः रस-निष्पत्तिके लिये है। इस भेदका आग्रह वस्तुतः श्रीकृष्णके स्वरूपकी विस्मृतिसे ही होता है। श्रीराधा-माधव एक ही सच्चिदानन्द-मय वस्तु-तत्त्व है—उसमें न स्त्री है न पुरुष। ब्रह्म-वैवर्तपुराण और देवीभागवतमें आया है कि इच्छामय सर्वरूपमय, सर्वकारणकारण, परम शान्त, परम कमनीय, नव-सजल-जलद श्याम परात्पर भगवान् श्रीकृष्णके वाम भागसे मूल प्रकृतिरूपमें श्रीराधाजी प्रकट हुईं। इन्हीं राधाजीके द्विविध प्रकाशमेंसे एकसे लक्ष्मीका प्राकट्य हुआ। अतएव श्रीकृष्णाङ्गसम्भूता होनेसे श्रीराधाजी नित्य श्रीकृष्ण-स्वरूपा ही हैं। श्रीदेवीभागवतमें श्रीराधाजीके मन्त्र,

उपासना, स्वरूपका और भगवान् नारायणके द्वारा उनकी स्तुतिका वर्णन है, जो संक्षेपमें इस प्रकार है—

“भगवती श्रीराधाका वाञ्छाचिन्तामणि सिद्ध मन्त्र है—
ॐ ह्रीं श्रीराधायै स्वाहा। असंख्य मुख और असंख्य जिह्वावाले भी इस मन्त्रका माहात्म्य वर्णन करनेमें असमर्थ हैं। मूल प्रकृति श्रीराधाके आदेशसे सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्णने भक्तिपूर्वक इस मन्त्रका जप किया था। फिर उन्होंने विष्णुको, विष्णुने विराट् ब्रह्माको, ब्रह्माने धर्मको और धर्मने युद्ध नारायणको इसका उपदेश किया। तबसे मैं निरन्तर इस मन्त्रका जप करता हूँ, इसीसे श्रृष्टिगण मेरा सम्मान करते हैं। ब्रह्मा आदि समस्त देवता नित्य प्रसन्नचित्तसे श्रीराधाकी उपासना करते हैं।

कृष्णार्चाया नाधिकारो यतो राधार्चनं विना।
वैष्णवैः सकलैस्तस्मात् कर्तव्यं राधिकार्चनम् ॥
कृष्णप्राणाधिका देवी तदधीनो विभुर्यतः।
रासेश्वरी तस्य नित्यं तथा हीनो न तिष्ठति ॥
राधनोति सकलान् कामांस्तस्माद्वाधेति कीर्तिता।

(श्रीदेवीभागवत ९। ५०। १६—१८)

“क्योंकि श्रीराधाकी पूजा किये बिना मनुष्य श्रीकृष्णकी पूजाके लिये अनधिकारी माना जाता है; इसलिये वैष्णवमात्रका कर्तव्य है कि वे श्रीराधाकी पूजा अवश्य करें। श्रीराधा श्रीकृष्णकी प्राणाधिका देवी हैं। कारण, भगवान् इनके अधीन रहते हैं। ये नित्य रासेश्वरी भगवान् के रासकी नित्य स्वामिनी हैं। इनके बिना भगवान् रह ही नहीं सकते। ये सम्पूर्ण कामनाओंको सिद्ध करती हैं; इसीसे ये ‘राधा’ नामसे कही जाती हैं।”

श्रीराधाका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

“श्रीराधाका वर्ण श्वेत चम्पाकुसुमके सदृश है। मुख शारदीय शशिका गर्व हरण करता है, श्रीविग्रह असंख्य चन्द्रमाओंकी कान्तिके सदृश झलमल करता है। नेत्र शरद्-श्रुतुके खिले हुए कमलके समान हैं। अरुण अधर विम्बफलके सदृश, स्थूल श्रोणि और क्षीण कटिप्रदेश दिव्य करधनीसे अलंकृत हैं। कुन्द-कुसुमके सदृश इनकी स्वच्छ दन्तपंक्ति सुशोभित है। दिव्य नील पट्टवस्त्र इन्होंने धारण कर रखा है। इनके प्रसन्न मुखारविन्दपर मृदु सुसकानकी छटा छायी है। उन्नत उरोज हैं। दिव्य रत्नमय विविध

आभूषणोंसे विभूषित ये देवी नित्य बालारूपमें अत्यवर्षाया प्रतीत होती हैं। इनके कुञ्चित केश मल्लिका और मालतीकी मालाओंसे सुशोभित हैं। अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त सुकुमार है। इनका श्रीविग्रह मानो शोभा—श्रीका लहराता हुआ अनन्त सागर है। ये शान्त-स्वरूपा शाश्वत-यौवना राधाजी रासमण्डलमें समस्त गोपाङ्गनाओंकी अधीश्वरीके रूपमें रत्नमय सिंहासनपर विराजमान हैं। वेद इन श्रीकृष्णप्राणाधिका परमेश्वरीकी महिमाका गान करते हैं।

तदनन्तर पूजाविधान बतलाकर श्रीनारायण कहते हैं कि 'जो बुद्धिमान् पुरुष भगवती श्रीराधाका जन्म-महोत्सव मनाता है, उसे राशेश्वरी श्रीराधा अपना सांनिध्य प्रदान करती हैं—

× × × × राधाजन्मोत्सवं बुधः ।

कुरुते तस्य सांनिध्यं दद्याद् राशेश्वरी परा ॥

फिर श्रीनारायण 'राधास्तवन' करते हैं—

नमस्ते परमेशानि रासमण्डलवासिनि ।

राशेश्वरि नमस्तेऽस्तु कृष्णप्राणाधिकप्रिये ॥

नमस्त्रैलोक्यजननि प्रसीद कृष्णार्णवे ।

ब्रह्माविष्णवादिभिर्देवैर्वन्द्यमानपदास्तुजे ॥

नमः सरस्वतीरूपे नमः सावित्री शंकरि ।

गङ्गापद्मावतीरूपे षष्ठी मङ्गलचण्डिके ॥

नमस्ते तुलसीरूपे नमो लक्ष्मीस्वरूपिणि ।

नमो दुर्गे भगवति नमस्ते सर्वरूपिणि ॥

मूलप्रकृतिरूपां त्वां भजामः कृष्णार्णवाम् ।

संसारसागरादस्मादुद्धराम्ब ! दयां कुरु ॥

(श्रीमदेवीभागवत ९ । ५० । ४६ से ५०)

'भगवती परमेशानी ! तुम रासमण्डलमें विराजमान रहती हो, तुम्हें नमस्कार है। राशेश्वरी ! भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय मानते हैं, तुम्हें नमस्कार है। कृष्णार्णवे ! तुम त्रिलोककी जननी हो, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ, तुम मुझपर प्रसन्न होनेकी कृपा करो। ब्रह्मा, विष्णु आदि समस्त देवता तुम्हारे चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। जगदम्बे ! तुम सरस्वती, सावित्री, शंकरा, गङ्गा, पद्मावती और षष्ठी, मङ्गलचण्डिका—इन रूपोंमें विराजती हो, तुम्हें नमस्कार है। तुलसीरूपे ! तुम्हें नमस्कार है। लक्ष्मी-स्वरूपिणी ! तुम्हें नमस्कार है। भगवती दुर्गे ! तुम्हें नमस्कार

है। सर्वस्वरूपिणी ! तुम्हें नमस्कार है। जननी ! तुम मूल प्रकृतिस्वरूपा एवं कृष्णाकी सागर हो। हम तुम्हारी उपासना करते हैं, अतः तुम इस संसार-सागरसे हमारा उद्धार करनेकी कृपा करो।'

इस स्तोत्रका माहात्म्य वे यों बतलाते हैं—'जो पुरुष त्रिकाल-संध्याके समय भगवती श्रीराधाका स्मरण करते हुए उनके इस स्तोत्रका पाठ करता है, उसके लिये कभी कोई भी वस्तु किंचित् मात्र भी अलभ्य नहीं रह सकती और आयु समाप्त होनेपर शरीरका त्याग करके वह बड़भागी पुरुष गोलोकधाम—रासमण्डलमें नित्य निवास करता है। यह परम रहस्य जिस-किसीके सामने नहीं कहना चाहिये।'

ये ही श्रीकृष्णस्वरूपिणी श्रीकृष्णाह्लादिनी श्रीराधा रावलग्राममें माता कीर्तिदादेवीके यहाँ महान् पुण्यमय मधुर रूपमें प्रकट होकर नित्य अभिन्न-स्वरूप श्रीकृष्णके साथ लीलाविहार करती हैं। इनके लीलासागरकी विविध शृङ्खल-कुटिल तरंगें हैं। प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव—ये सभी इस लीला-भाव-तरंगोंके ही स्वरूप हैं। इनकी पूर्ण परिणतिका नाम ही 'महाभाव' है और श्रीराधा ही 'महाभावस्वरूपा' हैं। उनमें पूर्वोक्त सभी भावोंका एकत्र अन्तर्भाव है। लीलामें समय-समयपर सभी भावोंका लीला-क्षेत्रानुसार प्रकाश होता है। कभी वे अत्यन्त मानिनी बनकर श्रीकृष्णके द्वारा अत्यन्त विनयपूर्ण मानभङ्ग-लीला कराती हैं, तो कभी अपना नितान्त दैन्य प्रकट करती हुई (ललितार्जुनसे) कहती हैं—

सखी री, हौं अवगुन की खान ।

तन गोरी, मन कारी, मारी, पातक पूरन प्राण ॥

नहीं त्याग रंचक मो मन में, भरबौ अमित अमिमान ।

नहीं प्रेम कौ लेस सेस, नित निज सुख कौ हौ ध्यान ॥

जग के दुःख-अभाव सतावैं, हो तन पीड़ा-मान ।

तब तेह दुख द्रग खवै अश्रुजल, नहिं कलु प्रेम-निदान ॥

तिन दुख-असुवन कौं दिखरावौं हौं सुचि प्रेम महान ।

करौं कपट, हिय-भाव दुरावौं, रचौं स्वाँग सज्जन ॥

मोरे प्रियतम मम, विमुग्ध बन, करैं विमल गुन गान ।

अतिसय प्रेम सराहैं, मोकूँ परम प्रेमिका मान ॥

तुमहू सब मिलि करौ प्रसंसा, तब हौं भरौ गुमान ।

करौं अनेक छत्र तेहि छन हौं, रचौं प्रपंच-बितान ॥

स्वाम सरल-चित्त, ठगों दिवस-निसि हों करि विविध विधान ।
घृग जीवन मेरौ यह कलुषित, घृग यह मिथ्या मान ॥

‘री खली । मैं अवगुणोंकी—दोषोंकी खान हूँ ।
शरीरसे गोरी हूँ, परंतु मनसे बड़ी काली हूँ; मेरे प्राण
पातकोंसे पूर्ण हैं । मेरे मनमें रंचकभर भी त्याग नहीं है,
अपार अभिमान भर है । प्रेमका तो लेश भी शेष नहीं है,
नित्य-निरन्तर अपने सुखका ही ध्यान रहता है । जब जगतके
दुःख-अभाव सताते हैं और शरीरमें पीड़ाकी अनुभूति होती
है, तब उस दुःखके कारण आँखोंसे अश्रुजल बहने लगता
है; उसमें तनिक भी प्रेमका कारण नहीं है । पर उन
दुःखके आँसुओंको मैं महान् पवित्र प्रेमके आँसू बताकर
प्रेम प्रकट करती हूँ । हृदयके भावको छिपाकर कपट करती
हूँ और जान-बूझकर स्वाँग रचती हूँ । मेरे भोले-भाले
प्रियतम मुझे परम प्रेमिका मानकर विमुग्ध हो मेरा निर्मल
गुणगान करते हैं और मेरे प्रेमकी अतिशय प्रशंसा करते
हैं । तुम सब भी मिलकर मेरी प्रशंसा करती हो, तब मैं
अभिमानसे भर जाती हूँ और उस अपने मिथ्या
प्रेमस्वरूपकी रक्षाके लिये अनेक छल-छद्म और प्रपञ्चोंका
विस्तार करती हूँ । इस प्रकार मैं सरल-हृदय श्यामसुन्दरको
विविध विधियोंसे दिन-रात ठगती रहती हूँ । धिक्कार है
मेरे इस कलुषित जीवनको और धिक्कार है मेरे इस मिथ्या
मानको !’

गोपी-प्रेमका स्वरूप—स्वभाव है—श्रीराधा-माधवका
सुख । वे श्रीराधा-माधवके सुखमें ही सुखका अनुभव करती हैं
और नित्य-निरन्तर उनके सुख-संयोग-विधानमें ही लगी रहती
हैं । एवं श्रीकृष्णप्राणा श्रीराधाजीका जीवन है श्रीकृष्ण-सुखमय ।
खाने-पीनेतकमें स्वाद-सुखकी अनुभूति भी उन्हें तभी होती है; जब
उससे श्रीकृष्णको सुख होता है । वे ‘अहं’को सर्वथा भुलाकर
केवल श्रीकृष्णसुखकी ही चिन्ता करती रहती हैं और
प्रेम-स्वभावानुसार अपनेमें दोषोंके तथा प्रियतम श्रीकृष्णमें
गुणोंके दर्शन करती हुई कहती हैं—

क्षण भर मुझे उदास देख जो कभी प्राणप्रिय । पाते ।
सारा मोद भूल तुम प्यारे । अति व्याकुल हो जाते ॥
कभी किसी कारण जब मेरे नेत्रकोण भर आते ।
तब तुम अतिविषण्ण हो प्यारे । आँसू अमित बहाते ॥
कभी म्लानताकी छाया यदि मेरे मुखपर आती ।
लगती देख बड़कने प्रिय । तत्काल तुम्हारी छाती ॥

मेरे मुख मुसकान देख तुमको अतिशय सुख होता ।
हो आनन्दमग्न अति मन तब सारी सुख-बुध खोता ॥
मुझको सुखी देखने-करनेको ही प्रतिपल प्यारे ।
होते पुण्य विचार मधुर, तब कार्य त्यागमय सारे ॥
मेरा सुख-दुख तनिकतुम्हें अतिशय है सुख-दुख देता ।
मेरा मन नित इन पावन भावोंसे अति सुख लेता ॥
दिया अमित, दे रहे अपरिमित, देते नित्य रहोगे ।
सहे सदा अपमान-अवज्ञा, आगे सदा सहोगे ॥
किया न प्यार कभी सच्चा, मैंने निज सुख ही देखा ।
निज सुखहेतु रूलाया, कभी हँसाया, किया न लेखा ॥
दे न सकी मैं तुम्हें कभी कुछ सुख-सामग्री कोई ।
निज मन-इन्द्रिय-तृप्ति हेतु मैंने सब आयुष खोई ॥
बुरा मानना, दोष देखना, पर तुमने नहीं जाना ।
मेरे स्वार्थसने कामोंको सदा प्रेममय माना ॥
मत्सुखकारक विमल प्रेमको मैंने नित ठुकराया ।
तब भी प्रेम तुम्हारा मैंने नित बढ़ता ही पाया ॥
तुम-से तुम ही हो, अग-जगमें तुलना नहीं तुम्हारी ।
मेरा अति सौभाग्य यही, जो मान रहे तुम प्यारी ॥

‘प्राणप्रियतम ! मुझे क्षणभरके लिये यदि कभी तुम
उदास देख पाते हो तो प्रियतम ! सारा आनन्द भूलकर
तुम अत्यन्त व्याकुल हो उठते हो । कभी किसी कारण जब
मेरे नेत्रकोण भर आते हैं, तब तुम अत्यन्त उदास होकर
आँखोंसे अपार आँसू बहाने लगते हो । कभी यदि मेरे मुखपर
तनिक-सी म्लानताकी छाया भी आ जाती है तो उसे देखकर
उसी क्षण तुम्हारी छाती बड़कने लगती है । कभी मेरे मुखपर
तनिक मुसकान देख लेते हो तो तुमको अतिशय सुख होता
है और तुम्हारा मन अत्यन्त आनन्दमग्न होकर सारी सुख-बुध
खो देता है । मुझको सुखी बनाने और सुखी देखनेके
लिये ही प्रियतम ! प्रतिपल तुम्हारे मधुर पवित्र विचार
और त्यागमय समस्त कार्य होते हैं । मेरे तनिकसे सुख-
दुःख तुम्हें अतिशय सुख-दुःख देते हैं । तुम्हारे इन पवित्र
भावोंको ग्रहण करके मेरा मन निरन्तर अत्यन्त सुखका
अनुभव करता है ।

‘तुमने मुझको अपरिमित दिया, अपरिमित दे रहे हो
और आगे भी सदा अपरिमित देते ही रहोगे । तुम मेरेद्वारा
सदा ही अपमान-अवज्ञा सहते आये हो और भविष्यमें भी
सदा सहते ही रहोगे । मैंने कभी सच्चा प्रेम नहीं किया,

केवल अपना ही सुख देखा। अपने ही सुखके लिये तुम्हें कभी रुलाया, कभी हँसाया। कुछ भी हिंसा नहीं रखा। मैं तुम्हें कभी कुछ भी सुखकी सामग्री नहीं दे सकी। मैंने अपनी सारी आयु अपने मन-इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये ही खो दी। पर तुमने तो कभी बुरा मानना, मेरे दोष देखना जाना ही नहीं और मेरे स्वार्थपूर्ण कार्योंको सदा प्रेममय ही माना। मुझे सुखी करनेवाले तुम्हारे निर्मल प्रेमको मैंने सदा ठुकराया, तब भी अपने प्रति तुम्हारे प्रेमको मैंने निरन्तर बढ़ता ही पाया। प्रियतम। इस अग-जगमें तुम-सरीखे एक तुम्हीं हो। तुम्हारी कहीं तुलना नहीं है। मेरा यही अत्यन्त सौभाग्य है, जो तुम मुझे अपनी प्रिया मान रहे हो।'

× × × ×

इसी प्रकार श्रीकृष्ण सदा अपने दोष देखते और श्रीराधाकी असाधारण गुणावलिपर विमुग्ध होकर उनके गुण-गानमें ही अपना सौभाग्य समझते हैं। जगत्के प्रेमी सिद्ध महापुरुषोंके प्रेमका निर्मल उच्च आदर्श दिखलते हुए तथा साधन एवं तत्त्व बतलते हुए वे श्रीराधाजीसे कहते हैं—

प्रिये ! तुम्हारा-मेरा यह अति निर्मल परम प्रेम-सम्बन्ध। सदा शुद्ध आनन्दरूप है, इसमें नहीं काम-दुर्गन्ध है। कबसे है, कुछ पता नहीं, पर जाता नित अनन्तकी ओर। पूर्ण समर्पण किसका किसमें, कहीं नहीं मिलता कुछ छोर है। सदा एक, पर सदा बने दो, करते लीला-रस-आस्वाद। कभी न बासी होता रस यह, कभी नहीं होता विस्वाद। नित्य नवीन मधुर लीला-रस भी न भिन्न, पर रहता भिन्न। नव-नव रस-सुख सर्जन करता, कभी न होने देता खिन्न। परम सुहृद्, घन परम, परम आत्मीय, परम प्रेमास्पद रूप। हम दोनों दोनोंके हैं नित, बने रहेंगे नित्य अनूप। कहते नहीं, जनाते कुछ भी, कभी परस्पर भी यह बात। रहते बसे हृदयमें दोनों, दोनोंके पुनीत अवदात। नहीं किसीसे लेन-देन कुछ, जगमें नहीं किसीसे काम। नहीं कभी कुछ इन्द्रिय-सुखकी कलुष कामना अपगति-धाम। नहीं कर्मका कहीं प्रयोजन, नहीं ज्ञानका तत्त्वदेश। नहीं भक्ति-साधन विधिसंगत, नहीं योग अष्टाङ्ग विशेष। नहीं मुक्तिको स्थान कहीं भी, नहीं बन्धनमयका लवलेख। आत्मरूप सब हुआ प्रेमसागरमें, कुछ भी बचा न शेष। प्रेम-उदधि यह तक गभीरमें रहता शान्त, अडोळ, अतोळ।

पर उसमें उन्मुक्त उठा करते हैं नित्य अमित हिल्लोळ ॥
ठठती वहीं असंख्य रूपमें ऊपर उसमें विपुल तरंग।
पर उन तरल तरंगोंमें भी उसकी शान्ति न होती मग्न ॥
अडिग, शान्त, अक्षुब्ध सदा गम्भीर सुधामय प्रेम-समुद्र।
रहता नित्य उच्छलित, नित्य तरंगित, नृत्य निरत अक्षुद्र ॥
शान्त नित्य नव-नर्तनमय वह परम मधुर रसनिधि सविशेष।
कहराता रहता अनन्त वह नित्य हमारे शुचि हृद्देश ॥
उसकी विविध तरंगें ही कर्तों नित नव लीला-उन्मेष।
वही हमारा जीवन है, है वही हमारा शेषी-शेष ॥
कौन निर्वचन कर सकता, जब परमहंस मुनि-मन असमर्थ।
मोक्षा-मोग्यरहित, विचित्र अति गति, कहना-सुनना सब व्यर्थ ॥

“प्रियतमे ! तुम्हारा और मेरा यह अत्यन्त निर्मल प्रेम-सम्बन्ध सदा विशुद्ध आनन्दरूप है, इसमें काम-दुर्गन्ध है ही नहीं। यह कबसे है, कुछ पता नहीं; परंतु यह नित्य-निरन्तर जा रहा है अनन्तकी ओर। किसका किसमें पूर्ण समर्पण है, इसका कहीं कुछ भी पता नहीं लगता। हम सदा एक हैं, परंतु सदा दो बने हुए लीला-रसका आस्वादन करते हैं। यह रस न कभी बासी होता है न इसका स्वाद ही बिगड़ता है। यह नित्य नवीन मधुर रहता है। यह लीला-रस भी हमारे स्वरूपसे भिन्न नहीं है, पर भिन्न रहता हुआ ही सदा नये-नये रस-सुखकी सृष्टि करता रहता है। कभी खिन्नता नहीं आने देता। हम दोनों ही दोनोंके नित्य अनुपम परम सुहृद्, परम घन, परम आत्मीय और परम प्रेमास्पद हैं। पर न तो कभी परस्परमें भी इस बातको कहते हैं और न कुछ जनाते ही हैं। हम दोनों ही दोनोंके हृदयमें पवित्र उज्ज्वल रूपमें सदा बसे रहते हैं। न किसी अन्यसे हमारा कुछ भी लेन-देन है, न जगत्में किसीसे कुछ काम ही है और न दुर्गतिके धामरूप इन्द्रिय-सुखकी ही कभी कुछ कलुषित कामना होती है।

“वस्तुतः न तो हमारा कहीं ‘कर्म’ से कुछ प्रयोजन है, न हमपर तत्त्वज्ञानका ही कोई आदेश है; न हममें विधिसंगत भक्ति-साधन है और न अष्टाङ्ग योग-विशेष है—यहाँ तक कि मुक्तिके लिये भी कहीं हमारे जीवनमें स्थान नहीं है तथा बन्धनके भयका भी लवलेख नहीं है। सबकुछ प्रेमसागरने आत्मसात् कर लिया है। कुछ शेष बचा ही नहीं।

“वह प्रेम-समुद्र तलमें सदा ही अनुलनीय गम्भीर, शान्त और अचल रहता है; पर उसमें उन्मुक्त रूपसे नित्य

अपरिमित हिलोर उठते रहते हैं। वहाँ ऊपर असंख्य विपुल तरंगें नाचती रहती हैं, परंतु उन तरुण तरंगालियोंसे उसके तलकी शान्ति कभी भङ्ग नहीं होती। यह सुधामय महान् प्रेम-समुद्र सदा ही अचल, अक्षुब्ध और शान्त बना रहता है; पर साथ ही यह नित्य उछलता, नित्य लहराता और नित्य नाचता भी रहता है। यह शान्त और नित्य नवीनरूपसे नृत्यरत, विशेषरूपसे परम मधुर अनन्त रस-समुद्र नित्य-निरन्तर हमारे पवित्र हृदय-देशमें लहराता रहता है। इसकी विविध तरंगें ही नित्य नवीन लीला-रसका उन्मेष करती हैं। हम परस्पर प्रेमी-प्रेमास्पद प्रिया-प्रियतमका यही जीवन है—यही हमारा शेष है और यही शेषी है। जब परमहंस मुनियोंका मन भी असमर्थ है, तब इस भोक्ता-भोग्य रहित, अत्यन्त विचित्र गतियुक्त हमारे स्वरूपका तथा इस प्रेम-रसका निर्वचन कौन कर सकता है। यहाँ कुछ कहना-सुनना सभी व्यर्थ है।”

श्रीराधा-माधवकी मधुर लीला अनन्त है। जिन भाग्यवानोंके मानस नेत्रोंमें इसका उदय होता है, वे ही इसके आनन्दका अनुभव करते हैं। अनिर्वचनीयका निर्वचन तो असम्भव ही है—‘अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।’

आज रस-प्रेम-स्वरूप श्रीवियामसुन्दरकी अभिन्नरूपा श्रीराधाका यह प्राकट्य-महोत्सव है। हमारा परम सौभाग्य है कि इस सुअवसरपर श्रीराधाके चरण-स्मरणका यह शुभ संयोग उपस्थित हुआ है। आइये, अन्तमें हम सब मिलकर प्रार्थना करें—

(क)

राधाजू! हम पै आजु ढरौ।

निज, निज प्रीतम की पद-रज-रति हमें प्रदान करौ ॥
विषम विषय-रस की सब आसा-ममता तुरत हरौ।
मुक्ति-मुक्ति की सकल कामना सत्वर नास करौ ॥
निज चाकर-चाकर-चाकर की सेवा दान करौ।
राखौ सदा निकुंज निभूत में, शाब्ददार बरौ ॥

(ख)

दयामयि स्वामिनि परम उदार !

पद-किंकिरी की किंकिरी-किंकिरी करौ मोय स्वीकार ॥
दूर करौ निकुंज-मग कंटक-कुस सब सदा बुहार।
स्वच्छ करौ तब पगतरि पावन, धूर-धार सब झार ॥
देखौ दूरहि तैं तब प्रियतम संग सुललित विहार।
नित्य निहारत रहौ, मिलै कछु सेवा की सनकार ॥

पद-सेवन कौ बड़े चाव नित काल अनंत अपार।
अर्पित रहै सदा सेवा में अंग-अंग अनिवार ॥
कबहुँ न जगै दूसरी तृष्णा, कबहुँ न अन्य विचार।
रहै न कितहुँ कछु ‘मेरोपन’, ‘अहंकार’ होय छार ॥
होय तुम्हारे मन के ही, बस, मेरे सब व्योहार।
बनौ रहै नित तुम्हरो ही सुख मेरो प्राणाधार ॥

(ग)

स्वाम-स्वामिनी राधिके। करौ कृपा कौ दान।
सुनत रहै मुखी मधुर, मधुमय बानी कान ॥
पद-पंकज-मकरंद नित पियत रहै दग-मृंग।
करत रहै सेवा परम सतत सकल सुखि अंग ॥
रसना नित पाती रहै दुर्लभ मुक्त प्रसाद।
बानी नित लेती रहै नाम-गुननि रस-स्वाद ॥
लगौ रहै मन अनवरत तुममें आठौ जाम।
अन्य स्मृति सब लोप हों सुमिरत छवि अमिराम ॥
बढ़त रहै नित फलहि-फल दिव्य तुम्हारौ प्रेम।
सम होवैं सब छंद पुनि, बिसरैं जोगच्छेम ॥
मुक्ति-मुक्ति की सुधि मिटै, डछलै प्रेम-तरंग।
राधा-माधव सरस सुधि करै तुरत मव-मंग ॥

(घ)

हे राधे। हे श्याम-प्रियतमे। हम हैं अतिशय पामर, दीन।
भोग-रागमय, काम-कलुषमय मन प्रपञ्च-रत, नित्य मलीन ॥
शुचितम, दिव्य तुम्हारा दुर्लभ यह चिन्मय रसमय दरबार।
ऋषि-मुनि-ज्ञानी-योगीका भी नहीं यहाँ प्रवेश-अधिकार ॥
फिर हम-जैसे पामर प्राणी कैसे इसमें करें प्रवेश।
मनके कुटिल, बनाये सुन्दर ऊपरसे प्रेमीका वेश ॥
पर राधे। यह सुनो हमारी दैन्यमरी अति करुण पुकार।
पढ़े एक कोनेमें जो हम देख सकें रसमय दरबार ॥
अथवा जूती साफ करें, झाड़ू दें—सौंपो यह शुचि काम।
रजकणके लगते ही होंगे नाश हमारे पाप तमाम ॥
होगा दम्भ दूर, फिर पाकर कृपा तुम्हारीका कण-देश।
जिससे हम भी हो जायेंगे रहने लायक तब पद-देश ॥
जैसे-तैसे हैं, पर स्वामिनि। हैं हम सदा तुम्हारे दास।
तुम्हीं दया कर दोष हरो, फिर दे दो निज पद-तलमें वास ॥
सहज दयामयि। दीनवत्सला। ऐसा करो स्नेहका दान।
जीवन-मधुप घन्य हो जिससे कर पद-पङ्कज-मधुका पान ॥

बोलो श्रीकीर्तिकुमारी वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णानन्दिनी राधारानीकी जय ! जय ॥ जय ॥॥॥

*भगवती श्रीराधाजीका प्राकट्य-महोत्सव नवी वस्तु नहीं है। पाँच हजार वर्ष पूर्व जब उनका धराधामपर अवतार हुआ, तभीसे प्रतिवर्ष यह महोत्सव मनाया जाता है। शास्त्रोंमें इसकी स्पष्ट आज्ञा है। 'पद्मपुराण'में स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिवर्ष महोत्सव मनानेका आदेश है तथा उसका महान् फल बतलाया गया है—

‘प्रत्यन्दमेव कुरुते राधाजन्ममहोत्सवम् ।’ (पद्मपुराण, उत्तर०, अ० १६३)

अवश्य ही श्रीराधाजीका सम्यन्ध लौकिक लीलासे कम रहा और भगवान्की आनन्दरूपा निजशक्ति होनेके कारण उनके आनन्दविधानसे ही विशेष सम्बन्ध रहा; अतः भगवान् श्रीकृष्णकी जैसे विभिन्न रूपोंमें तथा भावोंसे सर्वत्र पूजा-उपासना हुई, उनका प्राकट्य-महोत्सव जैसे सर्वत्र मनाया जाने लगा, वैसे श्रीराधाजीका स्वाभाविक ही नहीं मनाया गया। परन्तु भगवत्प्रेमके उच्चतम साधन-राज्यमें तो श्रीराधाजीके दिव्य आदर्शको सामने रखनेकी परम अनिवार्य आवश्यकता है ही, विश्वजगत्के मानव-प्राणीके लिये भी पारस्परिक प्रेमकी वृद्धिके हेतु जिस त्यागकी आवश्यकता है और जिसके बिना प्रेम केवल मोहका पर्यायवाची बना रहता है, वह त्याग श्रीराधाजीके परम त्यागमय जीवनको ही आदर्श मानकर चलनेसे शीघ्र सिद्ध हो सकता है। इसके लिये श्रीराधाजीके दिव्य प्रेमका, दिव्य भावोंका, उनके महान् त्यागका, उनकी दिव्य जीवनचर्याका और उनके स्वरूप-तत्त्वका स्मरण परम आवश्यक है और इसी महान् उद्देश्यको लेकर हमारे परम अद्वेय नित्यलीलालीन श्रीभार्गजीने लगभग ३१वर्ष पूर्व प्राचीन परम्परागत श्रीराधा-जन्म-महोत्सवको देशभरमें व्यापक रूप देने, उनकी महान् शिक्षाका प्रचार-प्रसार करके उसके द्वारा क्षुद्र 'स्व' की सेवामें लगे हुए पशुता तथा असुरताकी ओर जाते हुए अधोगामी मनुष्यको ऊपर उठाकर उसको वास्तविक मानव बनाने तथा साधनाके उच्च स्तरपर पहुँचानेके लिये, इस आयोजन का एक महोत्सवके रूपमें अपने यहाँ प्रारम्भ किया था। अपने निवासस्थान गीतावाटिका (गोरखपुर) में श्रीभार्गजी इस उत्सवको बड़ी ही भव्यता एवं उल्लासके साथ मनाते थे। भगवान् श्रीराधा-माधवकी कृपासे इस आयोजनमें उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त होती गयी और यह आयोजन साधनाके एक विशाल बोधिवृक्षके रूपमें परिणत हो गया। इतना ही नहीं, यहाँके महोत्सवसे प्रेरणा ग्रहणकर तथा 'कल्याण' में प्रकाशित इन महोत्सवोंपर दिये गये परमअद्वेय श्रीभार्गजीके अनुभूतिपूर्ण, सारगर्भित प्रवचनोंसे प्रभावित होकर भावुक भक्त देशके कोने-कोनेमें श्रीराधारानीका यह प्राकट्य-उत्सव मनाने लगे हैं। इसकी व्यापकता दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। परिणामस्वरूप श्रीराधारानी तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके सम्यन्धमें फैले हुए मोहजनित दुर्भावोंका नाश होकर उनके परमोच्च दिव्य जीवनकी भी झाँकी कहीं-कहीं होने लगी है। आध्यात्मिक जगत् परमअद्वेय श्रीभार्गजीके इस परम पावन प्रयासके प्रति सदा ऋणी रहेगा।

हमारी श्रीराधारानीके भक्तोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे अपने-अपने स्थानपर व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूपसे प्रतिवर्ष इस महोत्सवका आयोजन करें और श्रीराधारानीकी कृपा प्राप्त करें। साथ ही परम भागवत श्रीभार्गजीद्वारा प्रचारित साधना-जगत्की एक महती परम्पराको अभ्युन्नत बनाये रखनेमें अपना सहयोग प्रदानकर पुण्यके भागी बनें।

—चिम्पनबाळ गोखामी

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

भगवान्‌के चरणोंमें अपने-आपको समर्पित
करनेकी सच्ची चाह जाग्रत् करें

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किंकराः ॥
(पञ्च० उत्तर० ७२ । १००)

बस, मनुष्य-जीवनकी सार्थकता इसीमें है कि निरन्तर श्रीभगवान्‌को स्मरण किया जाय । उपर्युक्त वचन महर्षि श्रीवेदव्यासके हैं, जिनके वचन त्रिकाल-सत्य हैं । वे कहते हैं कि शास्त्रमें जितनी विधियाँ हैं अर्थात् 'ऐसा करो' और जितने निषेध हैं अर्थात् 'ऐसा नहीं करो', सबका अन्तर्भाव—सबका पर्यवसान इसीमें है कि निरन्तर भगवान्‌को याद रखो और कभी भगवान्‌को मत भूलो ।

हम लोगोंने अनन्त जन्मोंमें अनन्त बार परिवार इकट्ठे किये, अनन्त बार गृहस्थी की, अनन्त बार 'मेरा-मेरा' कहकर अनन्त प्राणियोंका मोह-जाल बाँधा, किंतु किसी भी जन्ममें एक बारके लिये भी हृदयसे, सच्चे मनसे श्रीभगवान्‌को 'मेरा' कहकर नहीं पुकारा, वरण नहीं किया । यदि यह किया होता तो फिर अब हमारी यह दशा नहीं होती । इसलिये इस बार अब भूल न करें । हृदयकी सारी शक्ति लेकर उनके चरणोंमें अपने आपको समर्पित करनेकी सच्ची चाह जाग्रत् करें । फिर प्रभु कृपामय हैं; वे देखेंगे कि ये सब अपनी नीयतभर बाज नहीं आ रहे हैं, इन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी है, इसलिये अब मैं इन्हें सँभाल लूँ । जिस दिन अन्तर्हृदयकी सच्ची चाहका प्रतिबिम्ब श्रीभगवान्‌के हृदयमें पड़ा कि उसी क्षण प्रतिक्रिया होगी, उनका संकल्प होगा और सब तत्क्षण उनके चरणोंमें पहुँच जायेंगे ।

जैसे भी हो, जिह्वाको श्रीभगवन्नामके
उच्चारणमें लगाइये

प्रश्न है कि सच्ची चाह उत्पन्न कैसे हो । संतोंका यह अनुभव है कि मलिन मनमें शुद्ध चाह उत्पन्न नहीं होती । इसलिये सबसे पहले मनको शुद्ध करना है । मन शुद्ध करनेका उपाय आजकलके लिये एक ही है । वह उपाय है, भगवद्भजन—भगवत्स्मरण । किंतु मलिन मन भगवद्भजनमें लग जाय, यह भी कठिन है । इसलिये एक काम करें—जिह्वासे ही भजन करें—लेते जायँ भगवान्‌का नाम । नाममें ऐसी अपूर्व शक्ति है कि अपने-आप मन लगने लगेगा । बिना श्रद्धा, बिना प्रेम, केवल हठपूर्वक जिह्वाको श्रीभगवन्नामके उच्चारणमें लगाइये; मन लगे तो उत्तम है, नहीं तो कोई परवा नहीं । यदि जिह्वाने नामका आश्रय नहीं छोड़ा तो सब कुछ अपने-आप नामकी कृपासे हो जायगा । श्रीरामकृष्ण परमहंसजी महाराजने कहा—'कोई अमृत-के कुण्डमें उतरकर अमृत-पान करे अथवा पैर फिसलकर गिर पड़े अथवा किसीके ढकेल देनेपर गिर पड़े, अथवा जान-बूझकर जबर्दस्ती उस कुण्डमें गिरा दिया जाय, यदि अमृतका संस्पर्श हुआ तो गिरनेवाला चाहे किसी प्रकारसे ही गिरा हो, अमर हो जायगा । उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के नामसे सम्बन्ध किसी प्रकार भी क्यों न हो, यह सर्वथा दुःखसे छुड़ाकर अत्यन्त आनन्दमय प्रभुके चरणोंमें ले जानेवाला है ।'

इसलिये पुनः-पुनः एक ही प्रार्थना है कि वाणीका संयम कर लें । विनोद करके क्या होगा ? क्षणभङ्गुर जीवनमें विनोद, हँसी-मजाकका अवसर नहीं है । बहुत रास्ता तै करना है । आवश्यक काम प्रभुकी सेवा समझकर करना है, इसीलिये आवश्यकतानुसार बोलनेकी

जरूरत होनेपर बोल लिया करें। ध्यान रखें कि कम-से-कम बोलकर ही काम चला लिया जाय और इसके बाद बाकी जो समय मिले, उसमें निरन्तर भगवन्नामकी ध्वनि होती रहे। धीरे-धीरे या जोर-जोरसे—जैसे भी सम्भव हो एवं सुविधासे हो।

इस बातपर बड़ी गम्भीरतासे विचार करेंगे। समय अनमोल है; जो श्वास गया, वह फिर नहीं लौटेगा। भगवन्नामके बिना गया हुआ श्वास व्यर्थ हुआ। मृत्युका ठिकाना नहीं कि कब आकर यहाँका सब खेल मिटा दे। मेरे इस कथनसे किसी प्रकार निराश होनेकी जरूरत नहीं है। जरूरत है केवल अपनी ओरसे पूरी शक्ति लगाकर भगवान्को पुकारनेकी। हमारी शक्ति, चाहे कितनी भी क्षीण क्यों न हो, यदि भगवान्में लगा दी जाय अर्थात् भगवान्की शक्तिसे संयुक्त कर दी जाय तो फिर उस क्षीण शक्तिकी ताकत इतनी बढ़ जाती है कि उसके द्वारा हम अपनी बुराइयोंको दूर करके सर्व-दुर्लभ भगवच्चरणोंको प्राप्त कर सकते हैं, इसलिये भगवत्कृपाकी डोरीको अपनी ओर खींचते रहें।

एक बानि करुनानिधान की। सोप्रिय जाकें गतिन आन की ॥

× × ×

जन अवगुन प्रभु मानन काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ ॥

× × ×

ऐसी कवन प्रभु की रीति।

विरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पे प्रीति ॥

(विनयपत्रिका २१४)

—इन वचनोंपर श्रद्धा बढ़ाते रहें। संतोंका कहना है कि यदि कोई सचमुच भगवत्कृपापर निर्भर हो जाय तो फिर वह अपने-आप आवश्यक साधनोंसे सम्पन्न हो जाता है। उसके लिये सब कुछ भगवान्की कृपा कर देती है।

सारांश यह है कि भगवत्कृपा और नामको अवलम्बन बनाकर जीवनके दिन बितायें। जगत् एवं जागतिक चेष्टासे अलग होनेकी चेष्टा करें।

आजका वातावरण भगवन्मार्गमें किसीको प्रोत्साहन दे, ऐसी आशा कम रखियेगा। कलियुगका निरन्तर बढ़ता हुआ प्रभाव साधना करनेवालोंको अभिभूत कर रहा है। फिर जो भगवान्से विमुख हैं, उनकी तो बात ही क्या है। इसलिये इस मार्गमें अकेले बढ़ना होगा। रोकनेवाले बहुत मिलेंगे, बढ़ानेवाले विरले। आपका मन कभी कर्तव्यके नामपर, कभी धर्मके नामपर आपको भगवान्से हटाकर जगत्में लगायेगा। इसलिये सावधान रहें।

हम कहीं भी रहें, किसी भी अवस्थामें रहें,
भजनको पकड़ें

माता देवदूतिजी कहती हैं—

अहो यत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम वृणन्ति ये ते ॥
(श्रीमद्भा० ३।३३।७)

‘बड़े आश्चर्यकी बात है—जिसने तुम्हारा नाम लिया, उसने सारी तपस्या कर डाली, हवन कर लिये, तीर्थ-स्नान कर लिया, वेद-पारायण कर लिया एवं उसने सभी आर्यगुणोंका संचय कर लिया। इसलिये जिसकी जीभपर तुम्हारा नाम है, वह चाण्डाल होनेपर भी अत्यन्त पूज्य है।’

उपर्युक्त श्लोकको पढ़कर मनमें कई बार यह बात आती है कि सचमुच कलियुगके अनर्थकारी वातावरणमें पढ़कर हमलोगोंने शास्त्रोंपर श्रद्धा खो दी; अन्यथा श्रीमद्भागवतके एक बार पढ़ लेनेपर फिर भगवान्का नाम कैसे छूटना चाहिये। ये वचन अर्थवाद नहीं हैं। इनको कहनेवाली स्वयं भगवज्जननी हैं एवं जगत्पर प्रकट करनेवाले महर्षि वेदव्यास हैं। किंतु समयके फेरसे हम इसे पढ़कर भी नहीं पढ़ते, सुनकर भी नहीं सुनते।

मन कभी-कभी विचित्र तरहसे धोखा देता है। भजनमें लगना चाहता नहीं, इसलिये अनेक युक्तियोंसे मनुष्यको प्रलोभित करता है। मन तीर्थ करनेकी सलाह देता है, बड़ी-बड़ी आडम्बरपूर्ण चेष्टाओंके द्वारा उपासना-के लिये प्रेरित करता है, तपस्याका नया-नया रूप ढाकर सामने रखता है, दया एवं धर्माचरणकी नयी-नयी योजना उपस्थित करता है, किंतु एकनिष्ठ होकर निरन्तर भजनकी सलाह बहुत कम देता है—जिस एक भजनसे सर्वस्वकी सिद्धि अत्यन्त सुलभतासे होती है, उसमें प्रवृत्त नहीं होने देता। इसीलिये महात्मा पुरुष कहते हैं—‘सावधान रहो, भजनको मुख्य बनाओ, और सारे कर्मोंको गौण रखो।’

उपर्युक्त कथनका यह अर्थ नहीं है कि तीर्थ नहीं करना चाहिये। यदि सम्भव हो तो अवश्य करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक एवं पापरहित तीर्थाटन अत्यन्त हितकर होता है। किंतु यदि हमें भगवान् ने ऐसी परिस्थितिमें रखा हो, जहाँ तीर्थाटन सुगम न हो, बड़े-बड़े पुण्यकर्मोंका आचरण कठिन हो तो इससे हताश होनेकी कोई बात नहीं है। सबका फल हमें मिल जायगा, यदि हमने ठीक भजन किया। तीर्थमें तीर्थपन क्या है, यह विचारें। किसी भी धर्म, किसी भी सम्प्रदायका कोई भी तीर्थ क्यों न हो, उसका तीर्थपन दो बातोंके कारण ही है—(१) या तो भगवान् ने वहाँ साक्षात् कोई लीला की है अथवा (२) किसी संतने उपासना की है (उपासनाका प्रकार भिन्न-भिन्न हो सकता है)। अतः यदि हमने ठीक जैसा चाहिये

वैसा भजन किया तो प्रभु हमें कृतार्थ करनेके लिये अवतीर्ण होकर एक नये तीर्थका निर्माण कर सकते हैं। इसलिये हम कहीं भी रहें, किसी भी अवस्थामें रहें, भजनको पकड़ें। मन नहीं लगता, कोई बात नहीं; जीभके द्वारा भगवान् के नामका आश्रय लें—जिह्वाग्रे, न हि मनसः अग्रे। इस भजनसे ही जगज्जियन्ता सर्वेश्वर हमारे पास आ जायेंगे—आ ही नहीं जायेंगे, बल्कि सर्वेश्वर, सर्वस्वतन्त्र होकर भी भजनेवालेके अधीन हो जायेंगे।

‘सुमिरि पवनसुत पावन नाम्। अपने बस करि राखे राम्॥’
(मानस १। २५। ३)

यह सर्वथा सत्य सिद्धान्त है।

मृत्यु सच्चे प्रेमियोंके लिये स्वागतकी वस्तु होती है

मृत्युका नियन्त्रण करनेवाले श्रीभगवान् हैं, जो किसीका कभी भी अमङ्गल नहीं करते। उनकी भेजी हुई मृत्यु हमें अमङ्गलमयी दीखती है, किंतु उसकी आड़में हमारा कितना मङ्गल है—इसकी कल्पना हम नहीं कर सकते। हाँ, यदि हम चाहें तो हम स्वयं मृत्युका आनन्द ले सकते हैं। जो मृत्यु जगत् के लिये अत्यन्त भयानक है, वही सच्चे प्रेमियोंके लिये, प्रभुके प्रियजनोंके लिये अत्यन्त स्वागतकी वस्तु होती है; क्योंकि मृत्यु उन्हें अपने प्रियतम प्रभुके अत्यन्त निकट पहुँचा देती है। अवश्य ही यह कहना-सुनना बड़ा आसान है, वास्तविक मृत्युको इस रूपमें स्वीकार करना थोड़ा कठिन है। किंतु भगवान् की कृपासे असम्भव कुछ भी नहीं—यह बात भी भूलनी नहीं चाहिये।

अन्तिम बात यही है—हम सब लोग भजन करें।



गोसाईं श्रीविठ्ठलनाथजी-३

[देखक—डॉ० (सेठ) श्रीगोविन्ददासजी]

[गताङ्क पृष्ठ १०७८ से आगे]

तीसरा अङ्क

पहला दृश्य

स्थान—फतेहपुर सीकरीके किलेमें सम्राट् अकबरका शयनागार ।

समय—रात्रि ।

[लाल पत्थरोंसे निर्मित फतेहपुर सीकरीके किलेके इस कक्षकी दीवारें भी लाल पत्थरोंकी ही हैं । तीन ओरकी दीवारें दिखती हैं, जो अत्यन्त भव्य हैं । दाहिनी ओर बाँयी दीवारके सिरोंपर बड़े-बड़े दरवाजें हैं, जिनकी चौखटों और पल्लोंकी लकड़ीपर खुदावका काम है । उन दरवाजोंपर कमरूबाबके मेहराबदार परदे लगे हुए हैं । भूमिपर रंग-बिरंगा फूल-पत्तीवाला ईरानी कालीन है । पीछेकी दीवारके दाहिनी ओर सोनेके पाखोंवाला पलंग है, जिसपर श्वेत चादर और श्वेत खोलीसे ढके हुए तकिये लगे हैं । इसी दीवारके बाँयी ओर बैठनेकी एक बड़ी गादीदार चौकी (कुर्सी) और एक छोटी गादीदार चौकी रखी है । कक्षकी छतपर रेशमी जरीकी चाँदनी लगी है, जिसमें झाड़-फानूस टँगे हैं । बड़ी चौकीपर सम्राट् अकबर बैठे हैं और छोटीपर राजा बीरबल । अकबर ढीला कुरता और ढीला पाजामा पहने हैं । सिर खुला हुआ है, जिसपर मुगलकालके पटे दीख पड़ते हैं । अकबरके गलेमें बड़े-बड़े मोतियोंका दो लड्डोंका कंठा है । बीरबल राजसी वेशमें है । घेरदार जामेके सहस्र अँगरखा, पाजामा और मुगलकालीन पगड़ी, जिसपर रत्नजटित सिरपेंच बँधा है ।]

अकबर—हाँ, मैं समझता हूँ मेरी सारी सल्तनतमें विठ्ठलनाथके मानिंद कोई संत नहीं है । उन्होंने जिस तरह रूहानी और जिस्सानी बातोंका मेल-मिलाप किया है, उस तरह शायद किसी दूसरेने नहीं ।

बीरबल—शायद ही नहीं, जहाँपनाह ! तमाम तवारीखमें ऐसे किसी शख्सकी मिसाल नहीं मिलती ।

अकबर—फिर उनका यह मानना कि तमाम काम खुदाके हैं और यही मानकर खुदाके लिये ही सारे काम करना एक खसूसियत है ।

बीरबल—वेशक !

अकबर—और देखो, बीरबल ! अपने छोटे-से कच्चे मकानमें ज्यादा-से-ज्यादा सादगीसे रहते हैं । साथ ही मुनासिब मौकोंपर शाही लिवास भी होता है ।

बीरबल—फिर दूसरी बातोंपर भी गौर कीजिये । श्रीनाथजीके अधिकारीकी बंदीखानेसे रिहाईके बिना पानी भी न पीनेकी शपथ और कौन ले सकता था !

अकबर—और फिर कैसे अधिकारीकी रिहाईके मुताल्लिक शपथ, जिसने उनके लिये श्रीनाथजीकी ज्योदी ही छः महीनेसे बंद करा दी थी ।

बीरबल—माँ-बदौलत शायद जानते होंगे कि उन छः महीनोंमें विठ्ठलनाथजीने अन्न छोड़ दिया था और यह प्रतिज्ञा की थी कि वे अन्न तभी खायेंगे, जब उन्हें श्रीनाथजीके दर्शन मिल जायेंगे ।

अकबर—और ये दर्शन भी उन्होंने शाही फरमानपर करना मंजूर नहीं किया । (कुछ रुककर) हालाँकि उनके बड़े भाईके लड़के पुरुषोत्तमकी इतनी कम उम्रमें मौत होना एक अफसोसकी बात है, पर परवरदिगार जो कुछ करता है अच्छेके लिये ही करता है । इसकी वजहसे अब श्रीनाथजीके मन्दिरके तिलकायतका झगड़ा निपट गया और विठ्ठलनाथ तिलकायत हो गये ।

वीरवल—आप ठीक फरमा रहे हैं, जहाँपनाह ! पर आप शायद जानते होंगे कि विठ्ठलनाथजीको तिलकायत होनेकी जग भी परवा नहीं थी । वे तो कहते थे, उनका काम सेवा करना है । अपने बड़े भाईके तिलकायत रहते हुए भी वे सेवा करते थे और चाहे कोई भी तिलकायत हो, वे सेवा करते रहेंगे ।

अकबर—जानता हूँ, यही सब तो उनकी खूबी है ।

(कुछ देर निःस्तब्धता)

अकबर—वीरवल ! उस दिन जब तुम मुझे वेप बदलकर श्रीनाथजीके दर्शन कराने ले गये थे, तब जानते हो, मुझे क्या दीखा ?

वीरवल—क्या, जहाँपनाह ?

अकबर—श्रीनाथजीके एक बाजू नवनीतप्रिय पालना छल रहे थे और उन्हें छल रहे थे विठ्ठलनाथ । पहले तो मुझे यही दीखा कि विठ्ठलनाथ नवनीतप्रियको छल रहे हैं, पर फिर एकदमसे सारा नजारा बदल गया । दीखा कि पालनेमें विठ्ठलनाथ बैठे हैं और नवनीतप्रिय कृष्णकी शकलोंमें उन्हें पालना छल रहे हैं । कभी दिखता, विठ्ठलनाथ नवनीतप्रियको छल रहे हैं और कभी दिखता नवनीतप्रिय विठ्ठलनाथको । जबतक मैं दर्शन करता रहा, इसी तरहका खेल चलता रहा ।

वीरवल—मुझे वह अनुभव नहीं हुआ, जो माँ-बदौलतको हुआ । बात यह है कि मेरा दिल अभी वैसा साफ-सुथरा नहीं बन पाया है, जैसा जहाँपनाहका है । ऐसा अनुभव उन्हींको हो सकता है, जिनका दिल स्फटिकके माफिक निर्मल हो जाय । और फिर एक बात और है ।

अकबर—क्या ?

वीरवल—वल्लभाचार्यजीके सम्प्रदायका सिद्धान्त है—शुद्धाद्वैत ब्रह्मवाद ।

अकबर—इन लफ्जोंको मुझे ज़रा और सगह्राओ, क्योंकि तुम जानते हो, मुक्तलिङ्ग सम्प्रदायोंके उरालोंको समझनेमें मेरी बड़ी दिलचस्पी है ।

वीरवल—‘शुद्धाद्वैत’का मतलब है—वह अद्वैत, जो शुद्ध है । और ‘ब्रह्मवाद’का मतलब है—सब कुछ, जो दिखायी देता है और जो नहीं भी दिखता, वह ब्रह्म है । आप शंकराचार्यजीके सिद्धान्तको तो मलीमाँति जानते हैं ?

सितम्बर ४—

अकबर—हाँ, वीरवल ! उनका कहना है—
‘ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या ।’

वीरवल—ठीक फरमा रहे हैं, जहाँपनाह ! और इसीलिये शंकराचार्यजीके सम्प्रदायके बादको ‘मायावाद’ कहा गया है ।

अकबर—और वल्लभाचार्यका सम्प्रदाय क्या मानता है ?

वीरवल—वह मानता है कि जगत् भी ब्रह्मका ही रूप है, इसलिये वह मिथ्या नहीं हो सकता । जैसा कि मैंने अर्ज किया—वह सभी कुछ ब्रह्म है, यह मानता है, इसलिये जो नवनीतप्रियजी हैं, वही विठ्ठलनाथजी और जो विठ्ठलनाथजी हैं, वही नवनीतप्रियजी । जुदा-जुदा शकलें होनेपर भी सभी ब्रह्म हैं, जिसका आपने दर्शन ही कर लिया ।

अकबर—(कुछ सोचते हुए) सच बात तो यह है वीरवल ! कि इन बातोंके मुताबिक सच्ची बात समझी ही नहीं जा सकती ।

वीरवल—पर, जहाँपनाह ! उसकी बखूबी कल्पना की जा सकती है ।

(कुछ देर निःस्तब्धता)

अकबर—तुम विठ्ठलनाथको समझा-बुझाकर फतेहपुर सीकरी तो ले आये, पर मेरी सल्तनतके इस वक्तके सबसे बड़े संतको मैं, जो सबसे बड़ा मजहबी खिनाव भोगाई देना चाहता हूँ और श्रीनाथजीके मन्दिरके लिये जो बड़ी भारी जागीर, वह लेना उन्होंने मंजूर कर लिया ?

वीरवल—दो शतोंपर ।

अकबर—कौन-सी शतें हैं वे ?

वीरवल—एक शत यह है जहाँपनाह ! कि हिंदुओंको हिंदू होनेकी वजहसे जो कर देना पड़ता है, वह खत्म कर दिया जाय और दूसरी यह कि आपके राज्यमें गोकुशी बंद हो ।

(अकबर गम्भीर विचारमें डूब जाते हैं । उनका चेहरा झुक जाता है । वीरवल एकटक उनकी ओर देखते हैं ।
कुछ देर निःस्तब्धता ।)

अकबर—(सिर उठाते हुए धीरे-धीरे) वीरवल ! तुमसे ज्यादा इस बातको कोई नहीं जानता कि मैं इंसान-इंसानमें

कोई फर्क नहीं समझता । मेरे लिये हिंदू और मुसलमान सब एक-से हैं । मैं बहुत दिनोंसे खुद यह सोच रहा था कि हिंदुओंका यह कर बंद होना चाहिये और जहाँतक गोकुशीका मामला है, बहुत कुछ सोचने-विचारनेके बाद मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि इस मुल्कमें वही सत्तनत मुद्दतों चल सकती है, जिसमें गायकी कुरवानी बंद कर दी जाय ।

वीरवल—आपने अगर यह किया तो तवारीखमें आपका नाम मुनहरे लफ्ज़ोंमें लिखा जायगा और मुगल हुक्मत मुद्दतों चलेगी ।

(कुछ देर निःसम्बन्धता)

अकबर—तुम विट्ठलनाथसे कह दो कि मैं एक दरबार करके उन्हें 'गोसाई'का खिताब दूँगा और उसी दरबारमें यह ऐलान करूँगा कि हिंदुओंको हिंदू होनेकी वजहसे जो कर देना पड़ता है, वह अब नहीं लिया जायगा और मेरी सत्तनतमें गोकुशी नहीं होगी ।

वीरवल—धन्य हैं आप—धन्य हैं जहाँपनाह !

अकबर—(कुछ रुककर) अच्छा, देखो, मैंने सुना है कि श्रीनाथजीका ठाट-बाट बढ़ जानेकी वजहसे उनके मन्दिरपर कर्ज हो गया है ।

वीरवल—यह सच बात है ।

अकबर—मैं नहीं चाहता कि श्रीनाथजीके ठाट-बाटमें किसी तरहकी कमी हो; क्योंकि यह ठाट-बाट अवामको मजहबकी तरफ खींचता है । श्रीनाथजीका आगेका खर्च चलानेमें तो जो जागीर मैं दे रहा हूँ, उससे मदद मिलेगी, लेकिन जो कर्ज हो गया है, उस रकमको तुम शाही खज़ानेसे लेकर अपने नामसे विट्ठलनाथको देकर इस कर्जको चुका दो और यह बात पोशीदा रहे कि तुम यह कर्ज शाही खज़ानेसे पटा रहे हो ।

वीरवल—यह रकम भी शाही खज़ानेके नामसे क्यों न दी जाय ?

अकबर—इसलिये कि श्रीनाथजीकी तो दूसरी बात है । विट्ठलनाथ जिस तरह इस वक्तके सबसे बड़े संत हैं, उसी तरह श्रीनाथजी सबसे बड़े देव । जागीरोंकी बात अल्ला है । उसके लिये मैंने कुछ उसूल तय कर दिये हैं । जागीर

उन्हींको मिल सकती है, जो उन उसूलोंपर चलें । हाँ, उसे कम-झादा करना मैंने अपने हाथमें रखा है; पर सरकारी खज़ानेसे कर्ज पटानेके लिये इस तरह रकमें दी जाने लगीं तो बहुत बड़ी गड़बड़ मच सकती है । ऐसी नज़ीरोंको सामने रख कुछ धोखा देनेवाले भी उससे नाजायज़ फायदा उठा सकते हैं । मैं जानता हूँ, तुमने मेरे इतने नज़दीक रहकर भी कोई बहुत बड़ी दौलत इकट्ठी नहीं की है । इसलिये श्रीनाथजीका कर्ज तुम अपने पाससे नहीं पटा सकते । वह रकम शाही खज़ानेसे मैं तुम्हें दूँगा और तुम उससे वह कर्ज पटा देना । यह मंजूरी तुम विट्ठलनाथसे और ले लो ।

वीरवल—आप जो दरबार करके उन्हें 'गोसाई'का खिताब दे रहे हैं और श्रीनाथजीके मन्दिरको जागीर, साथ ही हिंदुओंका कर और गोकुशी बंद करनेका ऐलान कर रहे हैं, उसके बाद इसके मुताल्लिक मैं विट्ठलनाथजीसे बात करूँगा ।

अकबर—(कुछ विचार करते हुए) यह ठीक है । (कुछ रुककर) वीरवल ! श्रीनाथजीकी सेवाने मुगल दरबारकी शान-शौकतको भी फीका कर दिया है । आज मेरे दरबारमें कुछ मुसाह्यों और खुदगज़ोंको छोड़कर कौन आता है ? अवाम तो श्रीनाथजीकी तरफ ही खिंचे हुए हैं ।

वीरवल—आप खुद मेस बदलकर भी श्रीनाथजीके दर्शन-के लिये जाते हैं ।

(दोनों हँसते हैं । अकबर खड़े होते हैं । वीरवल भी खड़े होते हैं ।)

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—फ़तेहपुर सीकरीके किलेका दीवाने आम ।

समय—मध्याह्न ।

[दीवाने आमकी तीन ओरकी दीवारें दिखती हैं, जो लाल पत्थरकी हैं । दीवाने आमकी भूमिपर लंबी गदियाँ बिछी हुई हैं, जिसपर दरवारी बैठे हैं । दीवाने-आममें शाही बैठक सुन्दरतासे सजी हुई है । बैठकके पीछे दरवारी पोशाक पहने हुए दो चँवरवाले सुरागायकी पूँछके श्वेत चँवर

लिये और दो व्यजनवाहक दो जरीके पंखे लिये हुए खड़े हैं। नेपथ्यसे शहनाईकी मन्दध्वनि आ रही है। कुछ ही देरमें नेपथ्यमें “वाखवर, वाअदब, वामुलाहिजा, होशियार, शहंशाहे हिन्दोस्तां तशरीफ़ ला रहे हैं” आवाज़ आती है। उसके बाद ही दो छड़ीदार धीरे-धीरे दाहिनी ओरसे प्रवेश करते हैं। सारे दरबारी खड़े हो जाते हैं। अकबरका शाही लिवासमें प्रवेश। वे अपने पीठपर आसीन होते हैं। उसके तुरंत बाद शब्द होता है, ‘विठ्ठलनाथ—जय विठ्ठलनाथ।’ प्रतिहारीके साथ बाँयी ओरसे विठ्ठलनाथजीका प्रवेश। वे आज मुगलकालके पूरे शाही लिवासमें हैं। उनके अपूर्व सौन्दर्य और इस लिवासके कारण उस सौन्दर्यके और निखर जानेके कारण अकबरतकका सौन्दर्य फीका पड़ जाता है। विठ्ठलनाथजी शाही बैठकमें ही बैठते हैं।]

अकबर—इस मुल्कमें कई मजहब हैं और उनको माननेवाली बड़ी-बड़ी जमातें। मैंने सल्तनतकी वागडोर सँभालनेके पहले यह तस्फ़िया कर लिया था कि मेरी हुकूमतमें ये सारे मजहब और इनको माननेवाले एक नज़रसे देखे जायेंगे। हिंदू और मुसल्मानमें कोई फर्क मैं नहीं समझता। जिस खुदाने मुसल्मानोंको बनाया है, उसीने हिंदुओंको भी। जैसे आँख, नाक, कान, हाथ, पैर मुसल्मानोंके हैं, वैसे ही हिंदुओंके भी। हिंदोस्तान बड़ा पुराना मुल्क है। इस मुल्ककी तहजीबकी तवारीख़से यह मालूम होता है कि इस मुल्कके ऋषियों-मुनियों, संतों-भक्तों और विचारकोंने इस बातको समझ लिया था। इस मुल्ककी तहजीबका उसूल एक ही लफ़्ज़-में आ जाता है। वह लफ़्ज़ है—‘अभेद’। अभेदपर चलनेवाली इस तहजीबमें हमें जो एक—दूसरेके उसूलोंको इज्जतकी निगाहसे देखनेकी बात मिलती है, वह दुनियाकी और किसी तहजीबमें नहीं। इसीलिये कोई किसीका किसी तरह भी मन दुखाये, यह बात हिंदोस्तानकी तहजीबके खिलाफ़ जाती है। जब सारे इंसान एक-से हैं, तब हिंदुओंपर हिंदू होनेकी वग़हसे कोई कर लगे, यह मैं तो सोच भी नहीं सकता। इसी तरह अगर गोकुलीसे किसी जमात या फ़िरकेका मन दुखता है तो वह भी मेरी सल्तनतमें नहीं चल सकती। इसलिये मैं

ऐलान करता हूँ कि हिंदुओंका यह कर आगेसे नहीं लिया जायगा और इस मुल्कमें गायकी कुर्बानी बिल्कुल बंद हो जायगी।

दरबारी—(एक स्वरमें) धन्य है..... धन्य है।

अकबर—मैंने अभी-अभी कहा कि मेरी हुकूमतमें सारे मजहब और उनको माननेवाले एक नज़रसे देखे जायेंगे। सभी मजहबोंके गुफ और नबीकी एक-सी इज्जत रहेगी। जहाँ-तक मुझे पता लगा है, आज बल्लभ-सम्प्रदायके आचार्य विठ्ठलनाथजीसे बड़ा इस मुल्कमें कोई गुफ और संत नहीं है। इसलिये मैं वह ‘गोसाईं’ खिताब उन्हें देता हूँ, जो मजहबी नज़रसे हिंदुओंका आज सबसे बड़ा खिताब है।

दरबारी—गोसाईं विठ्ठलनाथजीकी जय !

अकबर—इसीके साथ मैं एक बड़ी जागीर श्रीनाथजीके मन्दिरके खर्चके लिये लगाता हूँ।

दरबारी—श्रीगोवर्धननाथजीकी जय !

अकबर—एक बात मैं और साफ़ कर देता हूँ कि जागीर-के मुतालिक मैंने कुछ उसूल तय किये हैं। उन उसूलोंपर चलनेवाले दूसरे मजहबोंकी संस्थाओंको भी इस तरहकी जागीरें मिल सकती हैं। मेरी हुकूमतमें इस मुल्ककी तहजीब जिस एक लफ़्ज़ ‘अभेद’में आ जाती है, उसके मुताबिक सारे काम होंगे।

दरबारी—धन्य हैं, धन्य हैं।

अकबर—मुझे इस बातसे निहायत खुशी है कि विठ्ठलनाथजीने हमारी दरखास्तको मंज़ूर कर इस ‘गोसाईं’ खिताब और जागीरको कबूल कर लिया है।

(अकबर खड़े होते हैं। गोसाईंजी भी खड़े होते हैं। सारे दरबारी खड़े होते हैं।)

कबु यबलिका

तीसरा दृश्य

स्थान—फ़तेहपुर सीकरीके क़िलेका वह क़सब, जिसमें गोसाईं विठ्ठलनाथजी ठहरे हैं।

समय—अपराह्न।

[क़सबकी तीन ओरकी दीवार दिखती है। दाहिनी ओर बायीं ओरकी दीवारमें दो छोटे-छोटे

दरवाजे हैं। यद्यपि दीवारें लाल पत्थरकी ही हैं, तथापि दरवाजोंकी चौखटों और पल्लोंकी लकड़ीपर कोई खुदाव आदिका काम नहीं है। कक्षकी छतपर सफेद चाँदनी तनी हुई है, पर इससे कोई झाड़-फानूस आदि नहीं लटक रहे हैं। कक्षकी भूमि लाल पत्थरोंसे ही पटी हुई है। इसपर दो आसनोके अतिरिक्त और कोई विछायत नहीं है। कक्ष एकदम सादा है, पर स्वच्छ। एक आसनपर गोसाईं विठ्ठलनाथजी और दूसरेपर दामोदरदासजी हर्षानी बैठे हैं। इस समय गोसाईंजीकी वेपभूषा उपरना और धोती ही है, राजसी वेपभूषा नहीं। कोई आभूषण वे नहीं पहने हैं। हर्षानीजी भी धोती और उपरना ही धारण किये हैं।]

गोसाईंजी—हर्षानीजी ! आज अभी थोड़ी देर पहले ही राजा बीरबल मुझसे मिलने आये थे और उन्होंने जो प्रस्ताव किया है तथा उस प्रस्तावकी मेरे मनपर जो प्रतिक्रिया हुई है, उसीपर सम्मति देनेके लिये मैंने आपको बुलाया है।

हर्षानी—मैं तो सदा ही सेवाके लिये उपस्थित हूँ, कृपानाथ ! राजा बीरबलका क्या प्रस्ताव है ?

गोसाईंजी—उनका प्रस्ताव है कि श्रीनाथजीके मन्दिरपर जो ऋण है, उसे उनसे धन लेकर चुका दिया जाय।

हर्षानी—और आपकी इस प्रस्तावपर क्या प्रतिक्रिया है ?

गोसाईंजी—इस प्रस्तावपर मुझे पिताजीके जीवनकी वह घटना स्मरण आयी, जो राजा कृष्णदेव रायके यहाँ उस समय हुई थी, जब कृष्णदेव रायने उनका सौ मन सोनेसे कनकाभिषेक किया था और थाल भरकर मोहरें उन्हें भेंटमें रखी थीं। पिताजीने कनकाभिषेकका वह सोना लेना अस्वीकृत कर दिया था और थालभर मोहरोंमेंसे केवल सत मोहरें दैवी द्रव्य मानकर अङ्गीकार की थीं। मैं राजा बीरबलका यह प्रस्ताव स्वीकार करनेको तैयार नहीं हूँ; क्योंकि जो द्रव्य राजा बीरबल मुझे श्रीनाथजीका ऋण चुकानेके लिये देना चाहते हैं, वह दैवी द्रव्य नहीं हो सकता। या तो वह गुप्तरूपसे राज्यकोषसे लिया जायगा या ऐसा द्रव्य होगा, जो बीरबलने न जाने किन उपायोंसे

एकत्रित किया होगा। न तो राजकोषका धन दैवी द्रव्य हो सकता; क्योंकि न जाने कितने प्रकारसे वह राजकोषमें आता है और न बीरबलका द्रव्य ही दैवी द्रव्य हो सकता; क्योंकि उसका परिमाण इतना अधिक होगा कि बीरबल उसे नैतिक उपायोंसे एकत्रित कर ही नहीं सकते।

हर्षानी—यह तो ठीक है।

गोसाईंजी—आप कह सकते हैं कि फिर मैंने सम्राट् अकबरसे श्रीनाथजीके लिये जागीर कैसे ली ? जागीर लेना एकदम दूसरी बात है। जागीरका अर्थ होता है, ऐसी स्थावर-सम्पत्ति जो कृषकोंकी आयसे सम्बन्ध रखती है और जागीरके रूपमें उसे लेनेका अर्थ केवल यह होता है कि कृषकोंकी आयका जो भाग शासनको जाता है, वह शासन नहीं लेगा और वह जागीरदारको मिलेगा। जो जागीर मैंने श्रीनाथजीके लिये स्वीकार की है, उस जागीरकी उतनी ही आय मैं लूँगा, जो शास्त्रके अनुसार ग्राह्य है अर्थात् कृषकोंकी आयका एक पञ्चांश। फिर इस आय-धनको लेनेके समय भी मैं यह देखूँगा कि ऐसे कृषकोंसे तो धन नहीं आ रहा है, जो किसी प्रकारके भी कष्टमें हैं। हर्षानीजी ! मानवको अपना जीवन नैतिकरूपसे चलानेके लिये धर्मशास्त्रोंका ही आश्रय लेना चाहिये। हमारे धर्म-शास्त्रोंमें मनुस्मृतिका प्रधान स्थान है। मनुस्मृतिमें आदेश है कि राज्यको प्रजासे कररूपमें उसकी आयका एक छठा भाग लेना चाहिये। अतः श्रीनाथजीके लिये जागीर लेने और श्रीनाथजीके ऋणको चुकानेके लिये राजा बीरबलसे धन लेनेमें आकाश-पातालका अन्तर है।

हर्षानी—आपकी विवेकबुद्धि इतनी उच्चकोटिकी हो गयी है कि आपके निर्णय सर्वथा धर्मपूर्ण और नैतिकतासे भरे हुए होते हैं।

गोसाईंजी—तो आपकी भी यही सम्मति है न कि राजा बीरबलसे यह धन न लिया जाय।

हर्षानी—मैं आपसे सर्वथा सहमत हूँ; जय !

गोसाईंजी—श्रीनाथजीके मन्दिरपर ऋण श्रीनाथजीकी वर्तमान वैभवशाली सेवापद्धतिसे ही हुआ है। वह ऋण दैवी द्रव्यका ऋण है और श्रीनाथजीके प्रतापसे दैवी द्रव्यद्वारा ही चुकेगा।

हर्षानी—इसमें भी मुझे कोई संदेह नहीं है।

गोसाईजी—फतेहपुर सीकरी आकर हमने कोई भूल की है, ऐसा तो मुझे नहीं दिखता । 'गोसाई' उपाधि एक धार्मिक उपाधि है । इसे यदि मैंने स्वीकार किया तो इससे सम्प्रदायका महत्त्व बढ़ेगा । श्रीनाथजीके लिये जागीर स्वीकार की तो इसमें भी मुझे कोई अनौचित्य नहीं दिखता । फिर इन दोनों बातोंको स्वीकार करनेके पहले मैंने उस राज्यकरको बंद करा दिया, जो हिंदुओंको हिंदू होनेके कारण देना पड़ता था तथा सारे राज्यमें गोवधवर्दीकी घोषणा करा दी ।

हर्षानी—यह आप ही करा सकते थे ।

गोसाईजी—परंतु अब फतेहपुर सीकरीमें थोड़ा भी ठहरना मैं ठीक नहीं समझता । यहाँ राज्यके न जाने कितने प्रलोभन हैं । भगवान्ने भगवद्गीतामें तीन नरकके द्वार कहे हैं—काम, क्रोध और लोभ । 'काम'से भगवान्का अर्थ केवल उस काम-वासनासे नहीं है, जिसकी उत्पत्ति पुरुष-स्त्रीके आपसी संसर्गमें रहती है । यहाँ कामसे, अर्थ है, सब प्रकारकी इच्छाओंका । और सारी इच्छाओंकी पूर्ति सम्भव नहीं है, अतः जब इच्छाओंकी पूर्ति नहीं होती, तब क्रोधकी उत्पत्ति होती है । फिर फतेहपुर सीकरीके सदृश स्थानमें रहनेसे नाना प्रकारके लोभ आ सकते हैं; अतः राजा बीरबलको उनके प्रस्तावकी अस्वीकृति दे, हमलोगोंको तत्काल फतेहपुर सीकरी छोड़ देनी चाहिये ।

हर्षानी—धन्य है—आपके सभी निर्णयोंको धन्य है ।

लघु यवनिका

चौथा दृश्य

स्थान—फतेहपुर सीकरीके किलेमें अकबरका शयन-कक्ष ।
समय—रात्रि ।

[यह वही कक्ष है, जो इस अङ्कके पहले दृश्यमें था । सम्राट् अकबर कुछ उद्विग्नतासे इधर-उधर टहल रहे हैं । बीरबलका प्रवेश ।]

अकबर—(बीरबलको देखते ही जल्दीसे) तो गोसाईजीने क्या जवाब दिया ?

बीरबल—उन्होंने श्रीनाथजीके मन्दिरका कर्ज चुकानेके लिये जो धन मैं देना चाहता था, उसे मंजूर नहीं किया, जहाँपनाह !

अकबर—(कुछ आश्चर्यसे) अच्छा !

बीरबल—जी हाँ, उन्होंने कहा, वह दैवी द्रव्य नहीं है । अकबर—जो राज्यकी जागीर उन्होंने श्रीनाथजीके लिये मंजूर की, वह दैवी द्रव्य है ?

बीरबल—उन्होंने कहा, जागीरकी बात दूसरी है । उसमें किसानोंको खूनका पसीना बनानेपर जो आमदनी होती है, धर्मशास्त्रके मुताबिक उसका छठा हिस्सा मिलता है, जो दैवी द्रव्य है; पर जो धन मैं श्रीनाथजीका कर्ज चुकानेको देना चाहता हूँ, वह न जाने किन तरीकोंसे इकट्ठा किया गया है ।

अकबर—एकदम नया उसूल है और ऐसा उसूल, जो सारी खुदगर्जोंको लत मारता है ।

बीरबल—गोसाईजी फतेहपुर सीकरीमें और किसी लोभ-लालचमें न पड़ जायँ, इसलिये वे कल अलस-सुबह ही फतेहपुर सीकरी छोड़ रहे हैं ।

अकबर—बड़ा—बहुत बड़ा आदमी है ।

बीरबल—मैंने अपना गुरु किसी छोटे आदमीको थोड़े ही बनाया है, जहाँपनाह ! मेरी कतई राय है कि आज हिंदोस्तानमें वे सबसे बड़े संत हैं ।

लघु यवनिका

पाँचवाँ दृश्य

स्थान—फतेहपुर सीकरीका बुलंद दरवाजा ।

समय—उपान्धाल ।

बड़ा भारी फाटक है । फाटकपर निम्नलिखित शिलालेख खुदा हुआ है—

शिलालेख

'यह दुनिया एक पुलके सदृश है । इस पुलारो निकल जा, लेकिन इसपर मकान बनानेका विचार न कर । जो यहाँ घड़ीभर भी रुकनेकी इच्छा करेगा, वह सदैवके लिये यहीं ठहरनेका इच्छुक हो जायगा । इस दुनियाका जीवन तां क्षणमात्र है । उसे भगवत्स्मरण तथा भगवद्भक्तिमें बिता । भगवान्की उपासनाके सिवा और सब कुछ निरर्थक है, असार है ।'

दरवाजेके दोनों ओर किलेकी लाल पत्थरकी विशाल प्राचीर दिखायी देती है । गोसाईजी और हर्षानीजी कुछ वैष्णवोंके साथ दरवाजेमेंसे बाहर निकल रहे हैं । सब लोग उच्चस्वरसे हरिभुन कर रहे हैं ।

यवनिका

‘कृपालु शील कोमलम्’

(लेखक—श्रीरामनाथजी ‘सुमन’)

एक सज्जन हैं। वे कहा करते हैं कि ‘अपना कुछ नहीं है; जो है, भगवान्‌का है। वे ही देते हैं, वे ही ले लेते हैं। सुख भी उन्हींका है, दुःख भी उन्हींका है। शरीर उनका है, मन उनका है, प्राण उनके हैं; जयतक वे चाहेंगे, रखेंगे; न चाहेंगे, न रखेंगे। इसे लेकर बहुत चिन्ता-फिक्र व्यर्थ है।’

जो कुछ वे कहते हैं और जिसे और भी बहुतेरे लोगोंसे सुनता हूँ, उसे उन्होंने कितना गुना है, कितना केवल जिह्वागत है, कितना प्राणगत—यह कौन बता सकता है; परंतु जो कुछ वे कहते हैं, और जो संत-महात्माओंसे सुना है, वह यही है कि स्वार्थसे, परार्थसे, अपने हितके लिये या परायेके लिये, चाहसे या अनचाहे, साधनाके बिना या तपःपूत भावसे, दुःखमें या सुखमें—जैसे भी उनको पुकारो, वे सुनते हैं। उनके दरवाजेपर थपकी पड़ी कि वह खुल जाता है—‘Knock and it shall be opened unto you.’ वह सुनते हैं इसलिये कि सुने बिना रह नहीं सकते; इसलिये कि वह वहाँ भी हैं, जो पावन है, शुद्ध है और वहाँ भी हैं, जो अपावन है, अशुद्ध है। कुछ भी उनसे रिक्त नहीं है। और सुनते हैं तो द्रवित भी होते हैं। कठोर भी हैं, परंतु कठोरता और वेदनाके बीच भी वे हाथ पकड़े रहते हैं। यह उनकी शोधन-क्रिया है। उनके दण्डमें भी, उनकी दया है। वे इसी तरह उबारते रहते हैं। जहाँ कोई उपाय शेष नहीं रहता, वहाँ वे ही उपाय हैं—निराश्रितोंके आश्रयः अवलम्बरहितोंके अवलम्ब।

हाँ, तो मैं उन सज्जनकी बात कर रहा था। सामान्यतः वे सात्त्विक वृत्तिके व्यक्ति हैं। उनका अपने लिये कोई दावा नहीं है, सर्वहारा हैं। किसीको अपना नहीं मानते, पर छोड़ते किसीको नहीं, मानो अपने न होते हुए सभी उनके हैं। पुत्र हैं, बहुपुत्र हैं—समर्थ पुत्र, परंतु इस भीड़में भी वे एकाकी हैं। अपने पराये हो गये हैं; उन्हींके साधनोंसे पले पुत्रोंने अधिक-जैसी निर्दयताका प्रयोग उनके साथ किया है। उन्हींके गृह-प्रकोष्ठमें रहकर उन्हींके

साधनोंका इस्तेमाल करते हुए पुत्र-वधू, कष्ट और रोगमें भी उनके सामने आकर हाल-चालतक नहीं पूछती, सान्त्वना और सेवा तो बहुत बड़ी बात है। परंतु वे हैं कि सब निरपेक्ष भावसे सहन करते हैं; जैसे दुर्व्यवहार उनके साथ न हो रहा हो और वे सिनेमाके पर्देपर गुजरते हुए दृश्योंको देख रहे हों। कहा करते हैं कि ‘यह सब मेरे ही संचित कर्मोंका परिणाम होगा और प्रभुका न्याय-दण्ड ठीक है।’ इस अवस्थामें भी सभी बच्चोंके लिये कुछ-न-कुछ करते रहते हैं, उनके कल्याणकी बात सोचा करते हैं; अपने लिये कुछ नहीं सोचते। इसके लिये कभी पत्नीसे, कभी अधपनपी संतानसे कहा-सुनी भी हो जाती है—सब उन्हें सनकी समझते हैं। कोई कहता है—अपने मनके राजा हैं। कोई कहता है—‘बड़ा अहं है इसमें।’ एक प्रकारसे जितने अपने हैं, सभी उनकी उपेक्षा करते हैं।

परंतु भगवान्‌की कैसी दया है कि जहाँ अपने पराये हैं, वहाँ कितने ही पराये अपने हो गये हैं और उनके स्नेह-भ्रद्धाका आश्वासन उन्हें जीवनकी कष्टक-यात्रामें पग-पापरा प्राप्त हुआ है। जब अपनोंने उन्हें अपने दुर्व्यवहार-वाणसे विद्ध कर दिया है, तब दूसरोंने उसे सहलकर निकाल दिया है और उसपर मरहमपट्टी कर दी है।

तब वे क्या बुरा कहते हैं कि यहाँ कोई अपना नहीं, या जितने हैं, सब अपने हैं। पत्नीको भी यही समझाते हैं—‘कैसा गौरव है प्रभुका। तुमको तुम्हारी संतानने त्याग दिया, किंतु दूसरे कितनोंने तुम्हें माँ बना लिया। जो कुछ है, सब प्रभुकी दया है। वही, जो हमारे सबसे अपने हैं—हृदयके हृदय हैं। उन्हींमें छूटना सीखो, उन्हींको पुकारना सीखो, उन्हें ही अपनाओ; तुम्हारे कलेजेकी कसक और आग शान्त हो जायगी।’

उनकी जीको बात तो कर्णसुखद लगती है, परंतु हृदयमें नहीं पैठती। सोचतीं और कहतीं कि ‘सब ठीक है, पर कोई तो हमें संभालनेके लिये होना ही चाहिये। फिर संतान किसलिये होती है?’

वे कहते—‘भगवान् ही हमारी संतान हैं; वे ही हमारे माता-पिता, सखा-यन्त्रु और सर्वस्व हैं। वे ही स्वामी हैं, वे ही सेवक हैं। वे एकमें अनेक हैं। उन्हें पकड़ो, सब मिलेगा।’

बात कुछ समझमें नहीं आयी। सामान्य गानवकी समझमें नहीं आता कि भगवान् की करुणा कैसे अपनी गोदमें सर्वदुःखोंको समेट लेती है। परंतु इसी बीच हुआ यह कि वे सज्जन अच्छे-भले एक दिन रातको बीमार पड़े। नाड़ी एकदम गिर गयी—१८ प्रतिमिनट। उन्होंने आँखें उलट दीं, जिह्वा बाहर निकल आयी। मृत्युके लक्षण प्रत्यक्ष दिखायी पड़ने लगे। हृदयकी गति रुक गयी। रात बारह बजेका समय। कोई डाक्टर नहीं मिला। लोग घबराते हैं, चीखते हैं, दौड़ते-धूपते हैं और वे हैं कि हिलाने और पूछनेपर अश्रुतस्वरमें कहते हैं—‘सब ठीक है। मुझे कुछ नहीं हुआ है।’ वे चुपचाप भगवान् का स्मरण-जप कर रहे हैं। मृत्यु सामने खड़ी है—हाथ बढ़ाये हुए, गोदमें उठा लेनेके लिये और वे हैं कि परम शान्तिके साथ यह कौतुक देख रहे हैं। सात घंटेतक यह स्थिति रही; प्राण गये और आये, आये और गये। लोग हाय-हाय करते, अशक्त, विवश बैठे रहे। सुबह साढ़े छःके लगभग डाक्टर आये, एक विशेष इंजेक्शन दिया और घबराये बैठे रहे। ब्लडप्रेसरका पता न चलता था। डाक्टर खुद परीक्षण; कहने लगे कि मैंने तो २२ नाड़ी-गतिपर पर्यवसान देखा है—ये तो १८ पर पड़े झेलते रहे। कौतुक ही है। अन्तमें नाड़ी लौटने लगी और दो घंटे बाद नाड़ीकी गति ७० हो गयी। लोग घबराते घूमते रहे, परंतु वे हँसते-मुसकराते पड़े रहे। मानो कहते हों—‘झारी नाड़ तमारे हाथे; चिन्ता क्या है, प्रभुजी!’

बीस दिनों बाद फिर वही स्थिति हुई। मौत आकर चली जाती है और वे प्रभुकी यादमें खो जाते हैं। घर-

के लोग परीक्षण हैं, परंतु वे दान्त हैं। दवा न करनेका हठ भी नहीं है, किंतु कहते हैं कि दवा तो वस्तुतः वे ही हैं। आधी रातमें जब मृत्यु केश पकड़कर ले चली थी, तब किसने अपने अमृतस्पर्शसे मुझे बचाया? और वे न बचाते, ले ही जाते तो भी क्या उनकी दया और करुणा कुछ कम होती? लोग कहते हैं कि वे भक्तवत्सल हैं; तुलसीदासने भी वन्दना करते हुए कहा है—

‘नमामि भक्तवत्सलं’

किंतु भक्तपर, सेवकपर कृपालु होना तो कोई बड़ी बात नहीं; सभी अपने सेवकोंपर सदा रहते हैं; यह तो मानव-स्वभाव है। इसमें प्रभुकी क्या विशेषता हुई? प्रभु तो भक्त-अभक्त, सज्जन-दुर्जन—सभीको अपने करुण बाहु-पाशमें समेट लेते हैं। उनकी दया-परिधिमें कोई विशेष नहीं है। सभी उनके अपने हैं। खल उनकी अशेष करुणामें नहाकर स्वच्छ, मृदुल हो जाता है। हाँ, उन्हें पुकारना आवश्यक है; वाणीसे न सही, हृदयसे, मौनमें। उन्हें याद करो, वे दर्शन देंगे। जब स्त्री-पुत्र सब असहाय बैठे छटपटा रहे थे, उन्हीं दीनबन्धुने तो गोदमें लिये रखा? हमलोग उनसे दूर भागते रहे, किंतु वे तो हमें चिपटाये ही रहे। यही है उनका दया-वैभव! यही है उनका अपरिमित शील। इसीलिये तुलसीदास—

‘नमामि भक्तवत्सलं’

—कहकर ही नहीं रह जाते। फिर कहते हैं—

‘कृपालु शील कोमलं’

और मैं देखता कि वे सज्जन गुनगुनाते रहते हैं—‘कृपालु शील कोमलं’ गुनगुनाते जाते हैं और रोते जाते हैं; रोते जाते हैं और गुनगुनाते जाते हैं—

‘कृपालु शील कोमलं’

‘कृपालु शील कोमलं’

श्रेष्ठ कौन ?

हो का धर्ण माजी अग्रगणी। जो विमुख हरिचरणों॥

त्याहुनि श्वपच श्रेष्ठ मानी। जो भगवद्भजनों प्रेमल॥

कोई सब वर्णोंमें श्रेष्ठ हो, और हरिके चरणोंसे विमुख हो तो उससे वह श्रेष्ठ है, जो भगवान् के भजनका प्रेमी हो; भले ही वह श्वपच हो।

(संत एकनाथः नाथभागवतः ५ । ६०)

गुरु नानककी अमृत-वाणी

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

कहते हैं कि गुरु नानक जब मक्का-मदीनेके प्रवासमें थे, तब वहाँके क़ाज़ी और मुल्ला उनसे प्रार्थना करने लगे—

‘हुज़ूर, आप यहाँ मुक़ाम कीजिये ।’

गुरु साहिब बोले—मुक़ाम ? दुनिया कोई जगह है मुक़ामकी ? कोई ठहरनेकी जगह है यह ? कोई पक्का ठिकाना है यहाँ ? तकिया है यहाँ ?

दुनिया कैसे मुक़ामे ?

मुक़ाम तो स्थिर होता है, निश्चल होता है, अटल होता है । यहाँ क्या स्थिर है ? हम मक़ानमें बैठते हैं थोड़ी देरके लिये; पर चिन्ता लगी है कि चलना है, चलना है ।

मुक़ाम, कुटिया, रैन-वसेरा—है यह दुनिया । छोटे और बड़े, सिद्ध और साधक, राजा और महाराजा, सूर्य और चन्द्र, जल और थल—किसीका कोई मुक़ाम है यहाँ ?

मुक़ाम करि घरि वैसेणा; नित चलणै की धोक ।

मुक़ाम ता पर जाणिए; जा रहै निहचलु लोक ॥

दुनिया कैसे मुक़ामे ।

करि सिद्धकुं करणी खरचु बाधहु लागि रहु नामे ॥

दुनिया यदि टिकनेवाली होती तो कोई बात भी थी, पर यह तो है आनी-जानी, यह तो है फ़ानी नाशवान् । इसमें किसीका क्या ठिकाना ।

कैसा मुक़ाम है यह संसार ?

कैसा रैन-वसेरा, कैसा स्टेशन है यह जगत् ?

सभी जानते हैं कि यहाँ किसीका कोई ठौर-ठिकाना नहीं । किन्ते, कब यहाँसे चल देना पड़ेगा, कोई नहीं जानता ।

जब यह हाल है, तब समझदारी तो इसीमें है कि मनुष्य अपना पाथेय चुन ले । इस जीवनके परेकी यात्राके लिये, परलोक जानेंके लिये खर्च चुन ले । हृदयमें श्रद्धा रखकर,

सिद्ध करके प्रभुका नाम ले । परलोकके लिये सर्वोत्तम पाथेय है—प्रभुका नाम ।

दुनियाके स्टेशनसे हरेककी गाड़ी छूटनेवाली है । चाहे योगी हो या मुल्ला, पण्डित हो या सिद्ध, देवता हो या गन्धर्व, शेख हो या पीर, ऋषि हो या मुनि—हरेकको इस कूचेसे गुजरना होगा—

जोगी त असणु करि वहै मुखा बहै मुक़ामि ।

पंडित वख़ाणहि पोथीआ सिध बहहि देवस्थानि ॥

सुर सिध गण गंधर्व मुनिजन सेख पीर सतार ।

दरिकूच कूचा करि गए यह अवरे भि चलणहार ॥

स्टेशनपर मुसाफ़िरोंकी भीड़ लगी है । गाड़ी आती है, कुछ मुसाफ़िरोंको ले जाती है । बचे हुए लोग अगली गाड़ीका इंतज़ार करते हैं ।

स्वर्गलोककी इस गाड़ीमें सभीको चढ़ना है; फिर भले ही कोई सुल्तान हो, बादशाह हो, राजा हो, अमीर हो, खान हो—सभी यहाँसे कूच करते जाते हैं ।

अजब सरा है यह दुनिया फ़ानी,

किसीका कूच, किसीका मुक़ाम होता है ।

जो लोग बच रहे हैं, उनके नाम ‘वेस्टिंग लिस्ट’में हैं । प्रतीक्षावाली सूचीमें उनका नाम चढ़ा है । ऐ दिल, तेरा भी जल्दी ही नंबर आनेवाला है !

सुल्तान खान मलूक उमरे गए करि करि कूचु ।

बड़ी मुहति कि चलणा दिल समझु तूं भि पहुचु ॥

ऐ दिल ! तुझे भी इस बातको समझ लेना चाहिये कि पता नहीं, किस बड़ी तेरा बुलवा आ जाय !

सब दुनि आवण जावणी

सबदाह माहि वख़ाणीअहि बिरला त बूझै कोइ ।

‘नानकु’ वख़ाणे वेनती जल थलि महीअलि सोइ ॥

मुँहसे तो सभी कहते हैं कि हमें इस दुनियासे एक दिन चल देना ही है, शब्दमें इसी बातका संकेत

मिलता है, पर इस सत्यको, इस तथ्यको समझनेवाले कितने लोग हैं। नानककी विनती तो यही है कि जल और स्थल, आकाश और पातालमें एकमात्र प्रभु ही व्याप्त हैं। वे ही एकमात्र शाश्वत हैं, स्थिर हैं, अटल हैं—

अलाहु अलखु अगंम कादरु करणहार करीमु ।

सम दुनी आवण-जावणी मुकामु एकु रहीमु ॥

और तो सारी दुनिया अस्थिर है, चलती-फिरती है। स्थिर है केवल एक परम पुरुष। उसे चाहे ईश्वर कहो, चाहे अल्लाह। वह अलख भी है अगम भी। उसका न कोई वर्णन हो सकता है, न उसतक किसीकी पहुँच है। वह कुदरतका मालिक भी है, कुदरतका सिरजनहार भी है। कर्ता भी है, कादिर भी है। वह परम प्रभु अत्यन्त करुणामय भी है दयालु भी, रहीम भी है रहमान भी।

वही एक मुकाम है, वही एक ठिकाना है, वही एक तकिया है। उसके अलवा और जो कुछ है, सब नश्वर है, नाशवंत है, क्षणस्थायी है, आज है, कल नहीं।

मुकाम विसनौ आखीऐ जिसु सिसिन होवी लेखु ।

असमानु धरती चरुसी, मुकामु ऊही एकु ॥

दिन रवि चले निसि ससि चलै, तारिका लख पलोइ ।

मुकाम ऊही एकु है, नानका सचु वुगोइ ॥

एकमात्र अकाल पुरुष ही मृत्युके—नाशके चक्रसे मुक्त है। उसे छोड़कर पृथ्वी हो या आकाश, चन्द्रमा हो या सूर्य, दिन हो या रात, तारे हों या तारिकामण्डल—सब आते हैं और थोड़ी देरमें चल देते हैं। स्थिर रहता है एकमात्र वह अकाल पुरुष, वह सत्यस्वरूप, वह वाहि-गुरु।

अलख अपार अगंम अगोचर

कैसा है यह अकाल पुरुष ?

कैसा है यह परम ब्रह्म ?

कैसा है यह परमेश्वर ?

यह है अलख, यह है अपार, यह है अगंम, यह है अगोचर—

अलख अपार अगंम अगोचर ना तिसु कालु न करमा ।

जानि अजाति अजोनी संमड ना तिसु भाउ न भरमा ॥

साचै सच्चिआर विटहु कुरुबाणु ।

ना तिसु रूप वरनु नहीं रेखिजा साचै सबदि नीसाणु ॥ रहाउ ॥

यह अकाल पुरुष स्वयम्भू है, निराकार है, निर्विकार है, सत्यस्वरूप है।

सितम्बर '५—

वह वाहि-गुरु घट-घटव्यापी है ! घट-घटमें उसकी ज्योति समायी हुई है। सद्गुरुकी कृपासे, सद्गुरुके शब्दसे उस परमप्रभुका द्वार खुलता है—

ना तिसु मात पिता सुत बंधप ना तिसु कामु न नारी ।

अकल निरंजन अपर परंपर सगली जोति तुमारी ॥

घट घट अंतरि ब्रह्म लुकाइआ घटि घटि ज्योति सबई ।

वजर कपाट मुकते गुरमती निरमै ताड़ी लाई ॥

उस परमज्योतिमें एकाकार होनेके लिये, जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेके लिये सद्गुरुकी सेवा करनी पड़ती है।

शुद्ध और पवित्र बनकर ही उस सत्यस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त किया जा सकता है। गुरुकी कृपाने प्रभुकी शरण लेनेसे ही बेड़ा पार हो सकता है—

जंत उपाइ कालु सिरि जंता बसगति जुगति सबई ।

सतिगुरु सेवि पदारथु पावहि छूटहि सबदु कमाई ॥

सूचै भाईं साचु समानै विरले सूचा चारी ।

ततै कउ परमतंतु मिलाइआ 'नानक' सरणि तुमारी ॥

तू अकाल पुरुखु नाही सिरि काला

वह परमपुरुष, अकाल पुरुष अजन्मा है, न उसके कोई माता-पिता या सम्बन्धी हैं; न उसका कोई कुल है न कोई जाति। जरा-मरणसे वह परे है। वह अलख है, अगम है—

जगु तिसकी छाइआ जिसु बापु न माइआ ।

ना तिसु मैण न भगउ कमाइआ ॥

ना तिसु औपति खपति कुल जाती। ओहु अजरावर मन भाइआ ॥

तू अकाल पुरुखु नाही सिरि काला ।

तू पुरुखु अलेख अगंम निराला ॥

सच्चा साहिव है वह। आदि पुरुष है, अगम है, अगोचर है; ऊपर है, अपार है, परब्रह्म है। उस प्रभुके चरणोंमें मन लगानेमें ही जीवनकी सार्थकता है—

मेरा मनो मेरा मनु राता राम पियारे राम ।

सचु साहिवो आदि पुरुखु अपरंपरो धारे राम ॥

अगम अगोचरु अपर अपारा पार ब्रह्म परबानो ।

आदि जुगादी है भी होसी अवरु झुठा समु मानो ॥

करम-धरम की सार न जाणै सुरति मुकति किंव पाईये ।

'नानक' गुरुमुखि सबदि पछाणै अहनिमि नामु पियाईये ॥

राम तेरी कुदरति तू कादिर करता

वह परम प्रभु ही कर्ता है, स्रष्टा है; सारी सृष्टिकी रचना करता है । वह कादिर है; करीम है । वही सबको रोज़ी देता है—

बड़े कीआ बड़िआईआ किलु कहणा कहणु न जाइ ।
सो करता कादर करीमु दे जीआ रिजकु संवाइ ॥
साई काग कमावणी धुरि छोड़ी तिनें पाई ॥
'नानक' एकी बाहरी होर दूजी नाही जाई ।
सो करै जि तिसै रजाइ ॥

सब कुछ उसी परमप्रभुकी रचना है । उसीकी सारी कुदरत है । वही एक कर्ता है; करणहार है; सिरजनहार है । उसके हुकुमसे ही सब कुछ होता है । भीतर और बाहर एकमात्र उस परमप्रभुकी ही सत्ता है, हस्ती है ।

जो कुछ दिवायी पड़ता है, जो कुछ दृष्टिमें आता है, दृष्टिगोचर होता है, जो कुछ सुनायी पड़ता है, उसीकी सृष्टि है । 'गो गोचर जहँ लगि मनु जाई ।'—सब उसी कर्ताकी कुदरत है—

कुदरति	दिसै	कुदरति	सुणीए
	कुदरति	भठ	मुख सारु ॥
कुदरति	पाताली	आकासी,	
	कुदरति	सरब	आकारु ॥
कुदरति	वेद	पुराण	कतेबा
	कुदरति	सरब	बीचारु ॥
कुदरति	खाणा	पीणा	फन्हणु
	कुदरति	सरब	पोआरु ॥
कुदरति	जाती	जिनसी	रंगी
	कुदरति	जीअ	जहान ॥
कुदरति	नेकीआ	कुदरति	बदीआ
	कुदरति	मानु	अभिमानु ॥
कुदरति	पठप्पु	पाणी	वैसंतरु
	कुदरति	धरती	खाकु ॥
सब तेरी	कुदरति	तू	कादिर करता
	पाकी	नाई	पाकु ॥
'नानक'	हुकमें	अंदरि	वेखै
	वरतै	ताको	ताकु ॥

कुदरत माने क्या ?

कुदरत माने सृष्टि ।

कुदरत माने माया ।

कुदरत माने शक्ति ।

उस मालिककी कुदरतसे ही सब कुछ दीख पड़ता है, उसीसे सब कुछ सुन पड़ता है । उसकी कुदरतसे ही आकाश और पाताल बना है । उसीकी बदौलत प्राणी और पदार्थोंने आकार ग्रहण किया है । कुदरतसे ही वेद और पुराण, इंजील और क़ुरान, फ़ुरकान और तंवेतकी रचना हुई है । सारा विचार, सारा ज्ञान उस मालिककी कुदरतसे ही उत्पन्न हुआ है ।

सारे जीवोंका, सारे प्राणियोंका खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना; आपसी प्रेम-प्यार उस मालिककी कुदरतसे ही होता है । नाना प्रकारके सारे जीव-जन्तु, सारी रंग-विरंगी सृष्टि, नेकी और बदी; भलाई और बुराई; मान और अभिमान—सब उसकी कुदरतकी ही बदौलत है ।

'छिति जल पावक गगन समीरा ।' पञ्चतत्त्व—सब उस प्रभुकी कुदरतसे ही उत्पन्न हुए हैं । सारी कुदरत उसी मालिककी है । उसी कर्ताकी यह सृष्टि; उसी सिरजनहारकी यह रचना है ।

उस 'पवित्राणां पवित्रम्' पाकसे भी पाक परम प्रभुकी ही यह सारी सृष्टि है । वही सबका कादर है; मालिक है; वही सबका कर्ता है । उसीकी एकमात्र हस्ती है ।

उस 'गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्' परम पवित्र प्रभुका ही यह सारा खेल है । उसीकी यह सारी माया है । उसीके नामका यह जादू है । उसीका यह सारा विधान है । उसीके हुकुमका यह सारा तमाशा है । वह इस सृष्टिके कण-कणमें आप ही अकेला अपनी मर्जकि अनुसार बरत रहा है ।

ब्रह्मा विसनु महेस न कोई

सब कुछ उस मालिककी ही कुदरत है; एकमात्र उसीकी हस्ती है । वही सब कुछ करता है । सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय—सब उसीकी कुदरत है । उसके अलावा न कोई ब्रह्मा है; न कोई विष्णु; न कोई महेश ।

ब्रह्मा विसनु महेसु न कोई । अवरु न दीसै एको सोई ॥

आश्चर्यजनक है प्रभुका यह सारा खेल। चकित रह जाना पड़ता है मनुष्यको। उसकी अकल ही काम नहीं करती।

वेखि विडाणु रहिआ विसमादु

विसमादु नाद विसमादु वेद। विसमादु जीअ विसमादु भेद ॥
विसमादु रूप विसमादु रंग। विसमादु नागे फिरहि जंत ॥
विसमादु पउणु विसमादु पाणी। विसमादु अगनी खेडहि विडाणी ॥
विसमादु धरती विसमादु खाणी। विसमादु सादि लगहि पराणी ॥
विसमादु संजोगु विसमादु विजोगु। विसमादु भुख विसमादु भोगु ॥
विसमादु सिफति विसमादु सालाह। विसमादु उझड़ विसमादु राह ॥
विसमादु नेड़े विसमादु दूरि। विसमादु देखे हाजरा हजूरि ॥
वेखि विडाणु रहिआ विसमादु। 'नानक' बुझणु पूरै भागि ॥

शब्द और ज्ञान, जीवन और भेद, रूप और रंग, नागे और खुले घूमनेवाले जीव-जन्तु, पवन और पानी, अग्नि और पृथ्वी, नाना प्रकारके रस और स्वाद, संयोग और वियोग, भूख और भोग, सिफति और सालाह, मार्ग और कुमार्ग, निकट और दूर, हाजरा-हजूर, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष—देख-देखकर मनुष्य आश्चर्यसे चकित रह जाता है। कोई बात ही नहीं समझमें आती।

प्रभुकी इस आश्चर्यमयी रचनाको देख-देखकर मनुष्य हैरान रह जाता है। इसके रहस्यको समझना बड़े भाग्यकी बात है। सौभाग्यशाली व्यक्ति ही प्रभुकी इस रहस्यमयी रचनाको समझ पाते हैं; दूसरोंके वशकी यह बात है नहीं।

जय यह स्थिति है कि इस रहस्यको समझना कठिन है, सबके वशकी बात नहीं है, तब यह सवाल उठता है कि किया क्या जाय।

माना कि वह परम प्रभु, वह अकाल पुरुष, वह वाहि-गुरु हमारी बुद्धिसे परे है, हमारी अकल उसके दरबारमें प्रवेश नहीं कर पाती, वह जो चाहे सो करता है, उसके हुकुमसे, उसकी मर्जीसे सृष्टिमें पल-पलमें परिवर्तन होता रहता है, तब हम क्या करें? हमारे निस्तारका भी कोई रास्ता है?

माना कि वह अल्लाह अलख है, अगम्य है, कादिर है, करणहार है—सब कुछ है, पर वह करीम भी तो है। वह दयासागर भी तो है। करुणानिधान भी तो है।

भले ही उसे समझनेमें हमारी अकल काम न करे, पर उसकी दयालुताका तो हम लाभ उठा सकते हैं। क्यों न हम

उस दयानिधानसे प्रार्थना करें कि वह हमें अपनी शरणमें ले ले? क्यों न हम उससे विनती करें कि वह हमपर अपनी कृपादृष्टि बरसाये? क्यों न हम उससे माँगें कि 'हे मालिक! तू हमपर अपने अमृतकी वर्षा कर! तूने हमें पैदा किया है तो हमारी चिन्ता भी तुझे ही करनी है।'

हरि अनंत हरि कथा अनंता

अनन्त नाम हैं उस परमेश्वरके। उसकी कथा भी अनन्त है।

वह वासुदेव भी है हरि भी, गोविन्द भी है राम भी, इन सबका संयुक्त रूप वाहि-गुरु भी है अकाल पुरुष भी। वह प्रभु भी है भगवान् भी, विश्व भी है ब्रह्मा भी, गोपाल भी है गोलार्द्ध भी, मुरारी भी है, माधो भी, निरंजन भी है पारब्रह्म भी।

वह अल्लाह भी है करीम भी, ख भी है रहीम भी, राजक भी है कादिर भी, साहिव भी है मालिक भी, मीर भी है शाहशाह भी।

वह मीत भी है पिआरा भी, प्रीतम भी है मनमोहन भी, कन्त भी है खसम भी, गुरु भी है पीर भी, पिता भी है माता भी, मित्र भी है भाई भी।

वह निराकार भी है निरंकार भी, सगुण भी है निगुण भी, अमृत भी है वे-अन्त भी, आत्मा भी है परमात्मा भी, खालिक भी है खलक भी।

वह सत्य भी है सच भी, अगम भी है अगाध भी, भोगी भी है अभोगी भी, राजा भी है पातशाह भी, सागर भी है दरिआव भी, आनन्द भी है सुखसागर भी, अकाल पुरुष भी है अकाल मूरत भी, सर्वजोत भी है सर्वनिवासी भी, आप भी है सोहं भी, दातार भी है दीनदयाल भी, अकाल भी है अवेश भी।

जिनि करते करणा कीआ चिन्ता भि करणी ताह

जीवनकी, जगत्की, सृष्टिकी, अपनी-परायी चिन्ताका भार हम क्यों ढोयें? क्या जरूरत है इसकी? जिस मालिकका यह सारा पसाया है, वही करे इसकी चिन्ता।

मुझे तो बस तेरा आसरा है, तेरा भरोसा है।

मनि चाउ घनेरा सुणि प्रभ मेरा मैं तेरा भरवासा।
दरसन देखि भई निहकेवल जनम मरण दुखु नासा ॥

अवरु न जाणा दूजा तीया

आदि निरंजनु निरमलु सोई । अवरु न जाणा दूजा कोई ॥

हे परमप्रभु ! मैं तो और किसी दूसरे-तीसरेको नहीं
जानता । मुझे तो मालिक ! तब, तेरा ही एक सहारा है—

प्राप्तव्य एक—मार्ग अनेक

जिस प्रकार बिजलीकी रोशनी आती एक स्थानसे है, किंतु शहरमें नाना स्थानोंमें नाना रूपोंसे प्रकाशित होती है, उसी प्रकार नाना देशोंके विभिन्न जातियोंके धर्मगुरुओंको उसी एक भगवान्से स्फूर्ति मिलती है ।

जल है तो एक पदार्थ, किंतु देश, काल और पात्रके भेदसे उसके नाम भिन्न-भिन्न हो जाते हैं । हिंदीमें उसे 'जल' कहते हैं, उर्दूमें 'पानी' और अंग्रेजीमें 'वाटर' । एक दूसरेकी भाषा न जाननेके कारण ही कोई किसीकी बात नहीं समझ पाता, किंतु जान लेनेपर फिर भावमें किसी तरहका भेद नहीं रह जाता ।

भगवान् एक हैं, पर साधक और भक्तगण भिन्न-भिन्न भाव और रुचिके अनुसार उनकी उपासना किया करते हैं । एक ही दूधसे कोई रवड़ी तो कोई पेड़ा बनाकर खाते हैं, कोई दही या मट्ठा बनाकर पीते हैं और कोई-कोई मक्खन या घी निकालकर खाते हैं । इसी प्रकार जिनकी जैसी रुचि होती है, वे उसी भावसे भगवान्का साधन-भजन तथा उनकी उपासना करते हैं ।

छतके ऊपर जानेके लिये जैसे जीना, बाँस, सीढ़ी आदि अनेक उपाय हैं, उसी प्रकार एक ईश्वरके पास पहुँचनेके लिये अनेक उपाय हैं । प्रत्येक धर्म ही एक उपाय है ।

ईश्वर तो एक हैं, परंतु उनके नाम और भाव अनन्त हैं । जो जिस नाम और जिस भावसे उनकी आराधना करता है, वे उसी नाम और उसी भावसे उसे दर्शन देते हैं ।

जितने मत हैं, उतने ही पथ हैं । जैसे इस काली-मन्दिरमें आनेके लिये कोई नौ नावसे, कोई गाड़ीसे और कोई पैदल आता है, [उसी प्रकार भिन्न-भिन्न मतोंके द्वारा भिन्न-भिन्न लोगोंको सच्चिदानन्दकी प्राप्ति होती है ।

कोई किसी भी भाव, किसी भी नाम या किसी भी रूपसे उस अद्वितीय सच्चिदानन्दकी उपासना या साधन-भजन क्यों न करे, उसे निश्चय ही भगवान्का लाभ होगा ।

भगवान्का नाम और ध्यान चाहे जिस रीतिसे करो, उससे कल्याण ही होगा । मिश्रीकी रोटी चाहे सीधी करके खाओ, चाहे टेढ़ी करके, वह मीठी ही लगेगी ।

महात्मा केशवचन्द्र सेनने श्रीरामकृष्णदेवसे पूछा—“भगवान् तो एक हैं, फिर धर्म-सम्प्रदायोंमें इतना पारस्परिक वाद-विवाद क्यों दिखायी पड़ता है ?” श्रीरामकृष्णदेवने उत्तर दिया—“जैसे इस पृथ्वीपर लोग ‘यह हमारी जमीन और यह हमारा घर’ कहकर उसे घेरकर बैठ जाते हैं, किंतु ऊपर वही एक अन्त आकाश है, उसे कोई नहीं घेर सकता, उसी प्रकार लोग अज्ञान-वश अपने-अपने धर्मको श्रेष्ठ बताकर निरर्थक वाद-विवाद किया करते हैं । जब ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब परस्पर वाद-विवाद नहीं रह जाता ।”

जो लोग संकीर्ण विचारके हैं, वे ही दूसरोंके धर्मकी निन्दा करते हैं और अपने धर्मको श्रेष्ठ बताकर सम्प्रदाय गढ़ते हैं; किंतु जो ईश्वरानुरागी हैं, वे केवल साधन-भजन किया करते हैं, उनके भीतर किसी तरहकी दलबंदी नहीं रहती । बाँधी ताल-तलैयामें ही काई आदि जमती है, वहती नदीमें नहीं ।

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

प्रार्थना

जो तुमने मेरे लिये किया, वह असमोर्ध्व था

मेरे वन्धु !

जो तुमने मेरे लिये किया, वह असमोर्ध्व, तथापि अपर्याप्त था। जो कुछ तुमने मेरे लिये किया, वह अपरिमित था, फिर भी उसमें कुछ और करनेकी गुंजाइश थी। अपर्याप्त इसलिये कि तुम मेरे लिये जो कुछ कर सकते थे, उसकी कहीं कोई सीमा है ही नहीं। अनादि कालसे अनन्त कालपर्यन्त, अनन्त रूप धारणकर, अनन्त तरीकोंसे तुम मेरा अनन्त हित करते रहो—यही मेरे प्रति तुम्हारे प्रेमका स्वरूप है। इसकी कोई इति, थाह अथवा सीमा है ही नहीं। असमोर्ध्व तो वह है ही; क्योंकि, वन्धु ! तुम स्वयं इस विश्व-ब्रह्माण्डमें अनुपमेय हो। तुम्हारा रूप, गुण, कर्म, यश, लीला और स्वभाव—सब कुछ अतुलनीय है। मुझ, तुम्हारे प्रेमपात्रके प्रति तुम्हारा प्रेम-व्यवहार किसी अन्यके अन्यके प्रति प्रेम-व्यवहारसे कैसे अतुलनीय हो सकता है ? मेरे-तुम्हारे प्रेम-सम्बन्धकी समता कहीं अन्यत्र हो ही नहीं सकती।

प्रिय वन्धु ! तुम्हारे असमोर्ध्व यशके विस्तारके लिये ही तुम महाभावमय हो तथा विधाताने मुझे परम अभावमय रचा। यदि मैं नित्य रीता, नित्य याचक, नित्य भिखारी, नित्य सूना नहीं होता तो तुम्हारे अनन्त दान, अहैतुक दान, अमर्यादित एवं अतर्कित दानका योग्य पात्र कहीं मिलता ! मैं सदैव स्वीकार करनेको तैयार रहा, तभी न, वन्धु ! तुम नित्य देते रहे, अनादि कालसे देते रहे, अनन्त रूपोंसे देते ही रहे और अनन्त कालतक देते ही रहोगे। तुम देते-देते कभी भी नहीं थके और मैं लेता-लेता कभी नहीं अघ्राया। विश्वमें तुम्हारे दानकी कहीं तुलना नहीं; विश्वमें मेरे दानग्रहणका भी कोई उपमान नहीं।

वन्धु ! मैंने तुम्हारे साथ जो व्यवहार किया, उसे जानते हो तुम अथवा जानता है मेरा हृदय। वन्धु ! जो तुमने मेरे लिये किया, उसे जानता हूँ मैं अथवा जानता है तुम्हारा हृदय। मेरे-तुम्हारे व्यवहारके औचित्य-अनौचित्यका निर्णय हमारे अतिरिक्त दूसरा कौन निर्णायक कर सकता है ? हमारे प्यारकी, उपेक्षाकी, रोपकी, मनुहारकी, सत्कारकी-दुत्कारकी, सद्ब्यवहारकी एवं अत्याचारकी गाथाको, उसकी मार्मिकताको हम दोनोंके अतिरिक्त अन्य कोई क्योंकर जान सकता है। उसे तो जानता है मेरा मर्मस्थल तथा जानता है तुम्हारा अन्तर्हृदय।

मेरे वन्धु ! तुम्हारे प्यारको मैंने ठुकराया है। मैंने तुम्हारे मीठे सत्कारकी उपेक्षा की है। मैंने तुम्हारे प्रेमभरे उपहारोंको एक किनारे रख दिया और कभी तुमसे एक भी मीठा बोल नहीं बोला। अपने इन कुत्सित व्यवहारोंसे जो पीड़ा तुम्हारे कोमल हृदयको मैंने पहुँचायी है, उससे अधिक पीड़ा तो ऐसा करके मैंने स्वयं सहन की है। तुम्हारे प्यारकी उपेक्षा करके जो छुटन, जो उमस, जो व्याकुलता, अन्तर्व्यथा एवं तड़पन मेरे हृदयने मूकभावसे सहन की है, क्या उस परितापसे मेरे अपराधका परिमार्जन नहीं हो गया ?

मेरे वन्धु ! मेरा हृदय जानता है, अथवा जानते हैं मेरे प्राण कि तुमसे रूठकर, तुमसे अलग होकर, तुमसे अनबोले-अनजाने रहकर मुझपर क्या वीतती है ? पर यह पीड़ा भी मुझे इसलिये प्यारी है कि यह तुम्हें लेकर है। वह अनदेखी तुम्हारी झँकी, वह अनसुनी तुम्हारी मिठास-भरी वाणी, वह अनचीन्हा तुम्हारा माधुर्यपूर्ण व्यवहार, वह मेरी कल्पनाके तुम और तुम्हारी अननुभूत लीला यही मेरे सुखका स्रोत है, मेरे आनन्दका कोष है, मेरे प्राणोंका आधार है।

वन्धु ! तुम वही हो, जो तुम्हें होना चाहिये। मैं भी वैसा ही हूँ, जो मुझे होना था। न तुममें कोई सुधार, कोई भी परिवर्तन अपेक्षित है; क्योंकि प्यारकी हदतक तुम प्रेममय हो, प्रेमके अन्तिम छोर-तक तुम प्यारे हो। न मुझमें कोई परिवर्तनकी गुंजाइश है। मेरे नीचतम और तुम्हारे अतिशय महान् होते हुए भी तुम्हारा अनुपमेय प्रेमदान मुझे सदैवसे निरन्तर प्राप्त हो रहा है। यही तुम्हारा नित्य स्वभाव है, यही तुम्हारा यश-विस्तार है।

—तुम्हारा ही अपना एक

अर्धनारीश्वर

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।

याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥

(मानस १ । २ श्लोक)

भवानी श्रद्धा और भगवान् शिव विश्वास ! आप श्रद्धा-विश्वासके मध्य कहीं सीमा-रेखा बना सकते हैं ? ये परस्पर अभिन्न हैं ।

गौरव-बुद्धि-समन्वित विश्वासका ही नाम 'श्रद्धा' है और अविचल श्रद्धाका ही नाम 'विश्वास' है ।

आजकल लोग अन्धश्रद्धा-अन्धविश्वासका नाम लेकर नाक-भौं चढ़ानेमें अपनी श्रेष्ठता मानते हैं, किंतु समझदार इतने हैं कि जानतेतक नहीं कि श्रद्धा या विश्वास कहते किसे हैं !

यदि आप जानते हैं कि यह बात ऐसी है, इस वस्तु या व्यक्तिमें यह गुण, यह विशेषता है, तो आप अपनी जानकारीको मानते हैं । इसमें श्रद्धा या विश्वासका प्रश्न नहीं है । यदि आप नहीं जानते कि इस वस्तु या व्यक्तिमें यह गुण—यह विशेषता है या नहीं, किंतु आपने ऐसी बात किसी विश्वस्त व्यक्तिसे सुनी है, पढ़ी है, इसलिये मानते हैं; तो आप श्रद्धा करते हैं; आप विश्वास करते हैं ।

जानकर मानना ज्ञानको मानना है; विना जाने सुन या पढ़कर मान लेना श्रद्धा एवं विश्वास है । इसमें 'अन्ध' विशेषण लगाना अज्ञताके अतिरिक्त कुछ नहीं ।

समस्त सृष्टि श्रद्धासे व्यक्त हुई । भवानी—माया ही सृष्टिकी मूल हेतु हैं और समस्त ज्ञान विश्वाससे व्यक्त होता है । ये श्रद्धा-विश्वास नित्य अभिन्न हैं । महाकवि कालिदास कहते हैं—

वागर्थाविब सस्पृक्तौ
जगतः पितरौ वन्दे

वागर्थप्रतिपत्तये ।

पार्वतीपरमेश्वरी ॥

(रघुवंश १ । १)

कोई उस परमतत्त्वको 'पार्वती-परमेश्वर' कहते हैं, कोई 'लक्ष्मी-नारायण' कोई 'राधा-कृष्ण' और कोई 'सीता-राम' । गोस्वामी तुलसीदासजी महाकवि कालिदासकी ही बात अपने ढंगसे कहते हैं—

गिरा अरथ जल बीच सम कहिअत भिन्न न भिन्न ।

बंदउँ सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न ॥

(मानस १ । १८)

वाणी और उसका अर्थ, जल और लहर—ये नाम दो हैं—इसी प्रकार वह मूल सच्चिदानन्द तत्त्व-शक्ति-शक्तिमान् रूपमें होनेपर भी नित्य अभिन्न है ।

'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥'

आप जप-तप आदि साधन करके सिद्ध हो जा सकते हैं । सिद्धियोंकी प्राप्ति तो ओषधिसे हो जाती है ।

'जन्मोषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ।'

(योगदर्शन ४ । १)

कुछ लोग जन्म-सिद्ध होते हैं । सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा जन्मसे ही उनमें कुछ अधिक शक्तियाँ होती हैं । तपस्यासे, मन्त्रद्वारा अथवा मनकी एकाग्रतासे सिद्धि—शक्ति-विशेष प्राप्त करनेकी प्रथा प्राचीन कालमें थी । आज विज्ञान ओषधिसे सिद्धियोंको सुलभ करनेमें लगा है ।

महर्षि विश्वामित्रने तप करके नवीन सृष्टि करनेकी शक्ति प्राप्त कर ली थी । उन्होंने नवीन वनस्पति तथा प्राणी उत्पन्न कर दिये थे । सिद्धिका मूल जैसे तप है, वैसे ही ओषधि भी है । अतः कलको यदि विज्ञान नवीन प्राणी यन्त्रसे उत्पन्न कर लेता है तो आश्चर्यकी क्या बात होनेवाली है ।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

(गीता १३ । ६)

यह जो देहमें दृश्यमान चेतनता है, यह संघातज है और वह क्षेत्रके अन्तर्गत है । यह क्षेत्र सिद्धिके वशवर्ती है । 'सिद्धि' का अर्थ ही है—क्षेत्रमें इच्छानुसार

आधिर्भाव-तिरोभाव एवं परिवर्तनकी शक्ति । अतः यह शक्ति किसीमें जन्मसे हो सकती है; कोई तप, मन्त्र या समाधिसे उसे पा सकता है तो कोई ओषधिसे—विज्ञानके माध्यमसे भी उसे पा सकता है ।

सभी भौतिक माध्यम भौतिक उपलब्धि कर सकते हैं । फलतः सिद्धि केवल क्षेत्रमें प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, क्षेत्रज्ञतक उसकी गति नहीं है । आप सिद्ध भले हो जायँ—यदि आपमें श्रद्धा-विश्वास नहीं है तो आपके अपने भीतर ही जो अन्तर्यामी क्षेत्रज्ञ है, उसकी उपलब्धि आपको नहीं हो सकती । श्रुति कहती है—

‘श्रद्धस्त्व सौम्य !’

श्रद्धा माता हैं—भवानी हैं । इनके गर्भसे साधक-देहका जन्म होता है और यही शिवकी गोदमें अपने शिशुको देती हैं । आस्था—विश्वास भगवान् शिव हैं । जीवका कल्याण विश्वाससे होता है । आस्थाहीन-के सम्यन्धमें तो भगवान् ने कहा है—

‘संशयात्मा चिन्वति ।’ (गीता)

परमात्मा अपने हृदयमें ही है, वह अपने भीतर है, किंतु मिल इसलिये नहीं पा रहा है कि आपमें श्रद्धा नहीं; और श्रद्धा नहीं तो विश्वास कहाँसे होगा । श्रद्धारहित तो विश्वास हुआ नहीं करता ।

‘जान लेने—प्रत्यक्ष कर लेनेके वाद विश्वास होता है ।’ आप यह कहते हैं ? क्या और कितना जानते हैं आप ? आपकी जानकारी पूर्ण है क्या ? जीवकी जितनी जानकारी है, वह सदा अपूर्ण रहती है । कहीं-न-कहीं आपकी मान्यता—आपकी श्रद्धा है, जिसपर आपकी जानकारी टिकी है ।

यह श्रद्धा-विश्वासका अमेद—यह भवानी-शंकरकी अर्ध-नारीश्वर भव्यमूर्ति—यह ध्यानमूर्ति भी है और शिक्षामूर्ति भी । इसमें सृष्टिका रहस्य निहित है । आज प्राणिशास्त्री कहते हैं—‘सृष्टिका प्रत्येक प्राणी उभयलिङ्गी है । पुरुषमें स्त्री-अवयव केवल अविकसित दशामें हैं और पुरुष-अवयव स्त्रीमें अविकसित दशामें हैं ।’

पदार्थविज्ञान कहता है—‘प्रकृतिके प्रत्येक अणुमें आकर्षण-विकर्षणकी दोनों शक्तियाँ एक साथ हैं । आकर्षक-कण (प्रोटोन) एवं आकर्षित कण (इलैक्ट्रॉन) से ही समस्त परमाणु बने हैं ।’

शक्ति-शक्तिमान्का अमेद सृष्टिके अणु-अणुमें आज

स्पष्ट होने लगा है और आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि यदि कलको चलकर विज्ञान कहने लगे कि ‘उसे अणुओं-के आकारमें सर्वत्र भारतीयोंद्वारा पूजित शिवलिङ्ग दीखने लगा है ।’

साधकके लिये एक परम संदेश है इस अर्धनारीश्वर-मूर्तिमें । यह पराकाष्ठाके संयम एवं वैराग्यकी प्रतीक-मूर्ति है—

विश्वेश्वरत्वे सति भस्मशायिने
उमापतित्वे सति चोष्वरेतसे ।
वित्तेशशत्रुत्वे सति चर्मवाससे
निवृत्तरागाय नमस्तपस्विने ॥

कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके अर्धश्वर हैं, किंतु शयन करते हैं भस्मपर । संग्रह-पग्रिग्रह-विलासकी गन्ध भी समीप नहीं आने देते ।

आप हैं तो अर्धनारीश्वर—देहका अर्धभाग ही देवीको दे रखा है; किंतु संयमकी पराकाष्ठा हैं । ऊर्ध्वरेता, मदनरिपु हैं । इतना नित्य स्थिर अविचलित एकरस संयम-आदर्श है ।

सेवक हैं धनाधीश कुबेर और वह भी दूर नहीं—समीप ही रहते हैं; किंतु प्रभु कटिमें गजचर्म लपेटे रहते हैं । यन्त्रतक रखना स्वीकार नहीं है उन्हें ।

तपस्वी-साधक, परमार्थके जिज्ञासुमें राग—विषयासक्तिका लेश भी नहीं होना चाहिये, इसका आदर्श उपस्थित करनेके लिये प्रभु स्वयं परम तापसरूपमें रहते हैं ।

यह ध्येय मूर्ति है । आप इसका ध्यान करें और देखें कि हृदयमें श्रद्धा-विश्वास किस प्रकार अपना आसन स्थिर करने लगे हैं ।

एकलोचनमेकार्धं सार्धलोचनमन्यतः ।
नीलाधं नीलकण्ठार्धं महः किमपि मन्महे ॥

वामभागमें सुदीर्घ केशकलाप हैं—मणि-रत्नग्रथित और दक्षिणार्धमें कपिश जटाजूट सर्प-बन्धनसे बँधा है । ऊपर द्वितीयाका चन्द्रमा तथा गङ्गाकी धारा है । ललाटपर एक ओर कुङ्कुम-बिन्दु है और एक ओर त्रिपुण्ड्र । एक भागमें विशाल खड्गनमञ्च एक दृग् है और दूसरे भागमें डेढ़ नेत्र हैं । वामाङ्ग सम्पूर्ण किञ्चित् नीलाभ है और दक्षिणाङ्ग कर्पूरगौर होनेपर भी कण्ठदेश नील है । यह च्योतिर्मयी अर्धनारीश्वर मूर्ति—यह श्रद्धा-विश्वासकी अधिदेव-मूर्ति हृदयमें आये ।

अनेक वैष्णवाचार्योंका मत है कि उपासना शक्तिसमन्वित शक्तिमान्की ही की जानी चाहिये। महाभावालङ्कित रसरज ही मधुरोपासनाका आराध्य है। वह रसरज ही इसलिये है कि उसे महाभावेन अङ्गमाल दे रखी है। इस बातकी अर्ध-नारीश्वररूप सम्यक् अभिव्यक्ति है।

परमार्थकी पराकाष्ठातक इस बातको खींचनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि योगकी निर्विकल्प समाधि, बौद्ध-साधनका परिनिर्वाण और अद्वैतमतके 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के समान अनेक अपवाद इसमें निकलेंगे।

'रसो वै सः।'

परमपुरुष ही रस हैं। आनन्दस्वरूप हैं वे। शक्ति उस रसके व्यक्तीकरणकी प्रक्रिया है। वे आह्लादिनी हैं। बहुत ही सरल—व्यावहारिक रूप है इनका श्रद्धा-विश्वास। साधकको समाश्रयण देनेवाला रूप है यह।

कथा है कि गणेशजी और स्वामिकार्तिकमें प्रथमपूज्य होनेके प्रश्नपर विवाद छिड़ गया। निर्णय किया गया कि जो पहले पृथ्वीकी प्रदक्षिणा कर ले, वह प्रथमपूज्य। पण्डित स्वामिकार्तिक अपने मथूरपर बैठे और उड़ चले। लम्बोदर, ठिंगने चरणवाले गणेशजी मूषकपर बैठकर यह प्रतियोगिता जीत नहीं सकते थे। उन्होंने माता-पिताको समीप बैठे देखा तो उनकी ही प्रदक्षिणा कर ली और वे विजयी घोषित किये गये।

माता-पिता भवानी-शंकर—श्रद्धा-विश्वास जिसपर सानुकूल हैं—जो इनको प्रदक्षिण रख सकता है, वह नित्य विजयी—नित्य सफल है। सर्वत्र समादरप्राप्तिका वही अधिकारी है। बुद्धिके अधिदेवता गणेशजीने संदेश ही यह दिया—'विजय, सफलता एवं समादर चाहिये तो अपने बल-पौरुषका गर्व त्यागकर श्रद्धा-विश्वासको दाहिने करो। इन भवानी-शंकरके श्रीचरणकी शरण ग्रहण करो।'

रात्रि-प्रतीक्षा

[विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोरके 'मेघेर पर मेघ जमे छे' पदका श्रीसत्यकाम विशालंकारद्वारा किया हुआ भावानुवाद]

वादलोंपर वादल छा गये, अँधेरा हो गया—

ऐसे समय मुझ अकेलेको अपने द्वारके बाहर, प्रतीक्षामें

क्यों बिठा दिया, मेरे प्रियतम !

दिन ढलनेपर, शामकी वेलामें, मैं रोज विविध कामों और

विविध लोगोंमें व्यस्त रहता हूँ।

आज इस अँधेरी शाममें यहाँ अकेला केवल तेरे दर्शनकी

आशापर ही बैठा हूँ।

तूने यदि आज भी अपने दर्शन न दिये, और मेरी निपट

उपेक्षा कर दी, तो यह वरसातकी लंबी रात कैसे कटेगी ?

दूरके उदास नीले आकाशको मैं निर्निमेष देख रहा हूँ—

मेरा मन हवामें उड़ते वादलोंके साथ व्योम-विहार कर

रहा है,

मुझ अकेलेको द्वारोंके बाहर क्यों बिठा दिया, मेरे प्रियतम !

महात्मा श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी

(लेखक—श्रीरामलाल)

महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने सत्यरसामृत ब्रह्मानन्दके वितरणके लिये शरीर धारण किया था। उन्होंने आजीवन सत्य—ब्रह्मके शिवमय दिव्य सौन्दर्यका चिन्तन किया, असंख्य प्राणियोंको अपने ब्रह्म-संगीतसे मोहित कर लिया। निस्संदेह उनकी उपस्थितिसे केवल शस्यक्षयामला कोमल कान्तिमयी स्वर्णिम वज्रभूमि ही नहीं, आसेतु हिमाचलकी दिव्य गरिमा धन्य हो गयी। वे श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्दके समकालीन थे। योगी गम्भीरनाथकी साधना और तपस्यासे पवित्र उत्तरापथमें संचरण कर उन्होंने ब्रह्मके दिव्य गानसे भारतकी धरतीका कण-कण पवित्र कर दिया। ब्राह्मसमाजके सिद्धान्तोंको भारतीय शास्त्र-मर्यादा और भागवती चेतनाकी कसौटीपर कसकर उन्होंने सांस्कृतिक और आध्यात्मिक संरक्षण तथा जागरणमें महान् योग दिया। उन्होंने अपने समयकी अध्यात्म-चेतनाको भागवतरससे पूर्ण प्लावित कर दिया। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरके उपदेशामृत-पानसे उनकी अन्तरात्मा ज्योत्ति हो उठी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने सत्यका साक्षात्कार किया। उनका जीवन भव-बन्धनसे मोक्ष और राष्ट्रीय अभ्युत्थान अथवा निर्माणका प्रतीक था। उनके जीवनका अधिकांश बंगालमें ही बीता। वे महात्मा, भक्त और संत—सबके अद्भुत और असाधारण समन्वय थे।

महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने परम भागवत कुलमें जन्म लिया था। उनके पूर्वज चैतन्यदेवके समकालीन परम वैष्णव अद्भुत ब्रह्मानन्दी कृष्णभक्त अद्वैताचार्य महाशय थे, जिन्होंने शान्तिपुरमें जन्म लेकर, नवद्वीपधामको अपनी सरस भगवद्भक्तिसे गौरवान्वित कर महाप्रभु चैतन्यकी रसमयी लीलाका विस्तार किया था, जिनके 'जीवे दया नामे रुचि' महामन्त्रने बंगालको व्रजमें परिवर्तित कर दिया था। महात्मा विजयकृष्णके शरीरमें अद्वैताचार्य महाशयका पवित्र रक्त प्रवाहित था। अद्वैताचार्य महाशयकी जीवन-कथासे उन्होंने अपार प्रेरणा प्राप्त की थी। अपने पूर्वजोंके प्रति उनके मनमें अगाध श्रद्धा, असाधारण गौरवबुद्धि और पूज्यभावना थी। भगवद्भक्ति उनकी पेतुक सम्पत्ति थी।

बंगाल प्रान्तके नदिया जनपदमें परम पवित्र भगवती भागीरथीके तटपर स्थित शान्तिपुरमें उनका निवासस्थान था। विजयकृष्ण गोस्वामीके पिता आनन्दकिशोर लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे। उनकी पत्नीका नाम स्वर्णमयी था। दैवयोगसे माता स्वर्णमयी अपने नैहर गयी हुई थीं। स्वर्णमयीका नैहर नदिया जनपदके शिकारपुर ग्रामका निकटवर्ती दहकूल ग्राम था। उन्होंने संवत् १८९८ वि०की शूलन-पूर्णिमाको विजयकृष्ण गोस्वामीको जन्म दिया। शान्तिपुर और दहकूल—दोनों ग्रामोंमें प्रसन्नता और आनन्दकी वाढ़ आ गयी। स्वजन और सगे-सम्बन्धी नवजात शिशुके आगमनसे हर्षित हो उठे। विजयकृष्णके माता-पिता बड़े सात्विक स्वभावके थे। उन्होंने अपने प्राणप्यारे पुत्रके सुचारु पालन-पोषणमें अमित सावधानीका परिचय दिया। कभी विजयकृष्ण मामाके घर रहते थे तो कभी अपने घर शान्तिपुरमें। इस प्रकार उनकी शिक्षाका कोई निश्चित क्रम न था; कभी वे शान्तिपुरकी पाठशाला में पढ़ने जाते थे तो कभी दहकूलके विद्यालयमें शिक्षा पाते थे। वचनसे ही माता-पिताके सात्विक सम्पर्कके कारण साधु-संतों और देवी-देवता तथा भगवान्में उनकी श्रद्धा बढ़ती गयी। वे अद्भुत प्रतिभाशाली और बुद्धिमान् थे। यद्यपि देखनेमें वे बड़े चञ्चल थे, तथापि उनका स्वभाव कोमल और मधुर था। मनमें दयाका भाव था। घरमें भगवान् गोविन्ददेवकी पूजा होती थी। विजयकृष्ण बड़े प्रेमसे अपने गृहदेवता गोविन्ददेवको साथमें खेलनेके लिये बुलाया करते थे और जब यह देखते थे कि भगवान् नहीं आते हैं, तब उनपर अपना क्रोध प्रकट करते थे। इस प्रकार बाल्यावस्थामें ही उनमें भगवान्के प्रति विश्वास और अगाध प्रेमकी वृद्धि होने लगी। ग्राम-पाठशालाका अध्ययन समाप्त होनेपर संस्कृतके अध्ययनके लिये वे कलकत्ता आये। कलकत्ताके लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंके सम्पर्कसे उन्होंने बहुत कुछ सीखा। उनकी देवेन्द्रनाथ महर्षिसे घनिष्ठता बढ़ गयी। उनके उपदेशोंसे उन्हें आत्मज्ञानका प्रकाश मिला। थोड़े समयके बाद उनका विवाह कर दिया गया। उनकी पत्नीका नाम योगमाया देवी था, जो बड़ी सती-साध्वी और उदात्त चरित्रकी रमणी थी। विजयकृष्ण गोस्वामीने गृहस्थाश्रममें

प्रवेश करनेके बाद महर्षि देवेन्द्रनाथके उपदेशोंसे प्रभावित होकर ब्राह्मधर्मकी दीक्षा ले ली। महर्षिके उपदेशोंने उनके हृदयमें भागवत माधुर्य भर दिया। उन्होंने ब्राह्मसमाजके लोगोंमें निर्मल भगवदुपासना-पद्धतिका प्रचार किया। ब्राह्मसमाजके मूलमें लगे वैदेशिकताके कीड़ोंका अन्त कर डाला। पहले उन्होंने पूर्व वङ्गीय जनपदों—ढाका, खुलना, नोआखाली और मैमनसिंह आदिमें ब्राह्मसमाजका प्रचार किया, जनताको नवीन ज्ञान-प्रकाशमें भागवत-चेतना दी, ब्रह्म-उपासनाकी विधि समझायी, उसके बाद केशवचन्द्र सेनके साथ उत्तर-पश्चिममें प्रचार-यात्रा की। देशके कोने-कोनेमें ब्राह्म-समाजका प्रचार करना उनका जीवन-व्रत हो गया।

वे कलकत्तासे शान्तिपुर आते-जाते रहते थे। उन दिनों उनके मनमें भगवद्भक्ति बड़े वेगसे बढ़ रही थी। एक बार वे शान्तिपुर आये हुए थे। उनके जीवनपर नवद्वीपके चैतन्यदास बाबाके बड़ा प्रभाव डाला। शान्तिपुर-निवासकालमें महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी भगवान्‌के भजनके लिये बड़े व्याकुल रहते थे। सदा भगवच्चिन्तनमें लगे रहना ही उनका दैनिक कार्यक्रम हो गया था। वे नित्य भागीरथीके तटपर वासन्ती च्योत्स्नामें विचरण करते थे तथा उद्भिन्न होकर अपने प्रेमास्पदकी खोज करते थे। दिव्य प्राकृतिक सौन्दर्यकी पवित्रताका नयनोंमें संचार होनेपर उन्हें अपने प्रियतमका स्मरण हो आया करता था। एक दिन विजयकृष्ण गोस्वामीने अपने मनकी भावना शान्तिपुर-निवासी हरिमोहन प्रामाणिकके सम्मुख रखी; हरिमोहनने उनके भगवत्प्रेमसे विशेष प्रसन्न होकर उन्हें पढ़नेके लिये 'चैतन्यचरितामृत' ग्रन्थ दिया। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीके हाथमें चैतन्यचरितामृत ग्रन्थका आना था कि उनके रोम-रोममें अखण्ड और अतर्क्य भगवन्निष्ठा जाग उठी। जीवमात्रके प्रति दया, भगवन्नाममें भक्ति और रुचि तथा अनन्याश्रयकी भावनासे उनके विरहविदग्ध हृदयको बड़ी शान्ति मिली। '... एक दिन विजयकृष्ण चैतन्यदास बाबासे मिलने गये। उनके साथ उनके बन्धु नीलकमल देव थे। उन्होंने बाबासे भगवद्भक्ति-लभका उपाय पूछा। चैतन्यदास बाबाका रोम-रोम सिहर उठा; उन्होंने बड़े प्रेमसे विजयकृष्णकी ओर देखकर कहा—'भक्ति तो तुम्हारे ही घरकी सम्पत्ति है, अद्वैताचार्यके वंशजोंके रोम-रोममें

भक्तिका निवास है।' बाबाके विजयकृष्णसे कहा कि यदि प्रेम-भक्तिके लाभकी मनमें इच्छा है तो संसारके प्रति अनासक्त होकर दीन-हीन और अकिञ्चन अवस्थाका वर्ण कर लेना चाहिये। मनमें अहंकारकी एक कणिका रहनेपर भी भगवान्‌की भक्ति नहीं मिल सकती। विजयकृष्णके मनपर चैतन्यदास बाबाके कथनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके मनमें भगवद्भक्ति प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षा जाग उठी। महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने भक्ति-व्रत ग्रहण किया।

एक दिन वे शान्तिपुरमें गङ्गातटपर रात्रिमें विचरण कर रहे थे। चाँदनी रात थी। मन्द-मन्द समीर बह रहा था। वे भगवच्चिन्तनमें विमुग्ध हो उठे। उन्होंने निश्चय किया कि बिना भगवद्भक्ति और दिव्य प्रेमके ब्राह्मसमाजका कल्याण नहीं हो सकता। दूसरे दिन सवेरा होते ही ब्राह्मसमाजमें भक्तिरस भरनेके लिये वे कलकत्ता चले गये। '... भक्तिविषयक उपदेश और रचनामें लगा गये। उन्होंने गीतोंकी रचना की, जो भक्तिरससे परम समृद्ध थे। पूर्व बंगालकी यात्रा की और घर-घरमें उन्होंने भक्ति-चेतनाका उदय सम्भव किया। उनकी यात्रा सफल हो गयी। उन्होंने ब्राह्मसमाजके साधारण नियमोंकी ओर जनताका ध्यान आकृष्ट किया कि सदा परमेश्वरकी महिमाका चिन्तन करते रहना चाहिये। उनमें भक्ति और श्रद्धा सुदृढ़ करनी चाहिये। उन्होंने लोगोंको भक्तिका स्वरूप समझाया कि 'भक्तिको कृपणके धनकी तरह गुप्त रखना होगा। शास्त्रकार युवतीके स्तनोंके साथ उसकी तुलना किया करते हैं। बालिका खुले शरीर घूमती-फिरती है, पर युवती होनेपर स्तनोंको वस्त्रसे ढक लेती है। स्वामीके अतिरिक्त पिता, माता, गुरु—कोई भी उन्हें देख नहीं पाता। भक्तिका भी यही रूप है। उसे भी सावधानीसे सभीके सामने गुप्त रखना चाहिये।' '... भक्ति गोपनीय है।' महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने समझाया कि ज्ञान और कर्मके समन्वयसे ब्रह्मानन्दकी माधुरीका रसास्वादन करना चाहिये। उन्होंने भक्ति-साधनाके लिये निर्जन स्थानमें तप करना चाहा। वे तप करनेके लिये गया आये। गयाकी पहाड़ियोंमें उन्होंने परिभ्रमण कर सत्य-तत्त्वके अनुसंधानका व्रत लिया। उन दिनों सिद्धपुरुष परमयोगी गम्भीरनाथजी महाराज कपिलधारा पहाड़ीपर

तप कर रहे थे । विजयकृष्ण गोस्वामीने आकाशगङ्गा पहाड़ीको अपने तपका स्थान चुना । वे कभी-कभी आकाशगङ्गा पहाड़ीसे कपिलधारा पहाड़ीपर गम्भीरनाथजी महाराजसे योगिक साधनाके सम्बन्धमें विचार करने आया करते थे ।

कभी-कभी रातको वे उन्मत्तकी भाँति आकाशगङ्गासे उतरकर कपिलधारा पहाड़ीकी ओर बाबा गम्भीरनाथके सितारवादनसे मुग्ध होकर दौड़ पड़ते थे । कपिलधारा पहाड़ीकी चोटीपर बैठकर नीरव अर्धरात्रिमें बाबा गम्भीरनाथ सितारपर भजन गाया करते थे । विजयकृष्ण गोस्वामी झाड़ियों और काँटोंको रौंदते हुए उनके पास पहुँच जाया करते थे । एक बार चाँदनी रात थी । आधी रातके समय गम्भीरनाथजी सितार बजाकर भजन गा रहे थे । विजयकृष्ण गोस्वामीने उन्मत्त होकर शिष्योंको जगाया और कहा—‘सुनो, कितना मधुर भजन बाबा गम्भीरनाथ भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित कर रहे हैं ।’ वे योगी गम्भीरनाथसे बहुत प्रभावित थे । वे उन्हें प्रेमकी सजीव मूर्ति कहा करते थे । महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीने उनसे गुरुत्वके सम्बन्धमें बात की । योगीने संकेत किया कि ‘तुम्हें गुरुकी प्राप्ति होगी’ और उनके संकेतानुसार एक गुप्त संतने, जो आत्मविज्ञानसे बहुत दूर रहते थे, विजयकृष्णको दीक्षित किया । आकाशगङ्गा-निवासकालमें उन्होंने गुरुत्वका बोध प्राप्त किया । गयासे विजयकृष्ण कलकत्ता आये । वे स्वामी रामकृष्णसे मिलने दक्षिणेश्वर गये । उन्होंने गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया था, गृहस्थाश्रमका परित्याग कर दिया था । रामकृष्ण परमहंससे अध्यात्म-पथमें निरन्तर बढ़ते रहनेका उन्होंने आशीर्वाद प्राप्त किया ।

वे भगवद्भक्ति-प्रचारमें लग गये । उन्होंने साधारण ब्राह्मसमाजके प्रचारकका पद छोड़ दिया । उन्होंने भगवान्‌से निवेदन किया—‘प्रभो ! मेरी यही वासना है कि आपके श्रीचरण सदा मेरे हृदयमें रहें । इससे मेरा मन शान्त होगा, दुःख मिट जायगा तथा अमूल्य धनकी प्राप्ति होगी । मैंने यह सुना है कि बिना पापी या पुण्यात्माका विचार किये ही भवसागरसे आप पार उतार देते हैं । इसलिये मैंने आपकी शरण ली है ।’ उन्होंने मधुर-क्रोमल-क्रान्त पदावलीमें आत्मनिवेदन किया—

प्रेम-गिरि-कन्दरं योगी हृदये रहिवः
आनन्द-निर्झर-वारि दु हाते पान करिव ।
मिटाते विषय-तृषा संसारे कूपजले आर जाव ना
हृदय-करङ्ग भरि शान्ति-वारि पान करिव ॥

भाव यह है कि मैं प्रेम-गिरिकी कन्दरामें योगी होकर रहूँगा और दोनों हाथोंसे आनन्दके झरनेका शीतल जल पीऊँगा । विषय-वासनाको मिटानेके लिये संसारकूपके जलका आश्रय नहीं लूँगा । हृदयके कमण्डलुमें शान्तिरूपी जलको भरकर उसीका पान कर विषय-तृष्णा शान्त करूँगा ।

वारीसालके अश्विनीकुमार दत्त, कृष्णनगरके नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय तथा मनोरञ्जन गुह ठाकुर और नवकुमार विश्वास आदिने उनके सम्पर्क और पथ-प्रदर्शनमें ब्रह्मानन्दका मर्म-रहस्य समझा ।

गयासे लौटनेपर उन्हें पारिवारिक वियोग-दुःख सहना पड़ा । वे अपने परिवारके साथ कभी कलकत्तामें रहते थे तो कभी शान्तिपुर चले जाते थे । पुत्र और कन्याके विवाहके उपरान्त उनकी पत्नीका देहावसान हो गया । गोस्वामी महोदयने पत्नीके समाधि-मन्दिरकी स्थापना की ।

विजयकृष्ण गोस्वामीके जीवनमें अनेक विलक्षण घटनाओंका उल्लेख मिलता है, पर उनमेंसे एक अत्यन्त मार्मिक है । एक बार ब्राह्मसमाजके प्रचार-कार्यके लिये वे लखौर गये हुए थे । एक धर्मशालामें वे ठहरे थे । उन्होंने सोचा कि संसारकी दृष्टिमें तो मैं उपदेष्टा हूँ, पर मेरा जीवन पाप-चिन्तनमें रत है । इसकी रक्षा करना अनावश्यक है । आधी रातका समय था । उन्होंने आत्महत्याका निश्चय किया । शय्याका परित्याग कर रातकी नीरवतामें वे भगवती रावीके तटपर गये । उन्होंने डूबकर शरीरका त्याग करना चाहा । वे रावीकी गोदमें अवस्थित होनेवाले ही थे कि उन्हें एक महात्माका दर्शन हुआ । महात्माने विजयकृष्ण गोस्वामीको समझाया कि शरीरका त्याग करनेसे पापका नाश नहीं होता । अभी तुम्हारे शरीर-नाशका समय नहीं है । ईश्वर सब कुछ पहलेसे निश्चित रखते हैं । विद्वेश्वर परमात्माकी लीलाका दर्शन करो, भला होगा । महात्मा इतना कहकर अन्तर्धान हो गये । विजयकृष्ण गोस्वामीने आत्महत्याका विचार त्याग दिया ।

उनके जीवनका एकमात्र सिद्धान्त था—भगवच्चिन्तन । उन्होंने न तो किसी नवीन सम्प्रदायको जन्म दिया और न कोई नया मत ही चलाया । ईश्वर-प्रेममें रात-दिन उन्मत्त रहना ही उनका ध्येय था । उन्होंने कहा कि 'भक्ति धर्मका प्राण है, जीवन है, जीवकी शान्ति है; पापीकी गति है । भक्तिशून्य धर्मका जीवनमें कोई स्थान नहीं है । ब्रह्मकी उपासना परमशान्तिका दान करती है ।' उन्होंने अनन्त असीम सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप भगवान्की भक्ति की । उन्होंने भगवान्को सर्वव्यापी, निराकार और चैतन्य-स्वरूप बताया, अलौकिक, अप्राकृत तथा सर्वथा दिव्य ब्रह्मतत्त्वका गान किया । उन्होंने भगवान्के श्रीचरणोंमें निवेदन किया—

ओहे जगदीश ! आमार आर केह नाइ ।

तोमा बिने ए संसारे ।

आमार केवल पापे मति,

(ओहे) कि हइवे गति बल, हे आमारे ।

आमि देखितेछि सब, एइ जे वैभव,

ए सकल नय नाथ आमारि कारण;

आमि तोमारि कारणे; (दयामय) ए संसार अरण्ये

(ओहे) आसियाछि, तोमाय पाइबार तरे ।

आशय यह है कि 'हे जगदीश ! इस संसारमें आपको छोड़कर मेरा दूसरा कोई नहीं है । मेरी तो पापमें ही गति है; आप ही कहिये कि इसका क्या परिणाम होगा । मैं देख रहा हूँ कि संसारका जो कुछ भी वैभव है, यह मेरे कारण नहीं है । यह तो आपके कारण है और मेरी स्थिति आपके ही कारण है । मैं आपकी प्राप्तिके लिये, हे दयामय ! इस संसाररूपी अरण्यमें आ गया हूँ ।'

उन्होंने स्पष्ट कहा—'दीनबन्धो ! मैं और कुछ नहीं चाहता । मैं नराधम अवोध और मूर्ख हूँ । हे दयालो ! हे कंगाल-धन ! आप बड़े दयालु हैं । यदि आप दयालु होकर ऐसा बोध न करायेंगे तो रक्षा किस तरह होगी । मेरे हृदयधन ! मैं कुछ नहीं जानता, फिर किस तरह कुछ बोल सकता हूँ । मेरी इच्छा है कि मेरे रोम-रोममें आपके नामका गुंजार हो । आप मेरे प्राणकी वस्तु हैं, मैं आपकी शरणमें हूँ ।' विजयकृष्ण गोस्वामीने साधनाके माध्यमसे कहा—'हे प्रभो ! आप मेरे

हृदयके स्पर्शमणि हैं । आपका दर्शन मेरे नयनोंका भूषण है । मेरे मुखकी शोभा आपका नाम-संकीर्तन है । आपके चरणोंकी सेवा मेरे हाथोंका अलंकार है । आपका नाम-श्रवण ही मेरे कानोंका आभूषण है । मैंने प्रेम-मणिहार धारण कर लिया है तो अब कौन-सा भूषण बाकी रह गया ।' यह है महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीकी साधनाका स्वरूप । वे सदा भगवान्से दर्शन देनेकी प्रार्थना किया करते थे । उनकी उक्ति है—

वासना करेछि मने देखिब तोमाय;

तोमार करुणा बिना ना देखि उपाय हं ।

पापे मलिन आमि दिवस-यामिनी,

दया करि त्राण कर देखि दीन-हीन हे ॥

दयामय नाम तोमार शुनिया श्रवणे,

लयेछि शरण, पिता ! देह दरशन हे ॥

उनके कथनका आशय यह है कि 'मैं आपको देखनेकी मनमें इच्छा करता हूँ, पर यह आपकी करुणासे ही सम्भव है । दूसरा उपाय कोई है ही नहीं । मैं तो रात-दिन पापाचरणसे मलिन हो गया हूँ । आप मेरे-जैसे दीन-हीनपर कृपा-दृष्टि कीजिये, मेरी रक्षा कीजिये । हे पिता ! मैंने आपका नाम सुनकर आपकी शरण ली है; हे दयामय ! आप दर्शन दीजिये ।'

उन्होंने बताया कि 'ईश्वर-भक्तिमें तो प्राणिमात्रका अधिकार है । भक्तिमें विचार या तर्कके लिये स्थान नहीं है । वह साधनातीत है; अद्वैतकी है ।' वे योग-साधनाको बड़ा महत्त्व देते थे । जीवनके अन्तिम दिनोंमें उन्होंने अगणित शिष्योंको योग-साधनाकी शिक्षा दी । हरिद्वार, प्रयाग आदिके कुम्भ-मेलोंमें सम्मिलित हुए । उन्होंने कुछ दिन वृन्दावनमें भी निवास किया । वृन्दावनमें उन्होंने ईश्वरभक्तिका प्रचार किया । वैष्णवोंकी उनमें श्रद्धा हो गयी । वे तीर्थभ्रमणको धर्म-साधनका बहुत बड़ा अङ्ग मानते थे ।

उन्होंने जीवनका अन्तिम समय पुरीमें बिताया । चैतन्य महाप्रभुके नीलचलका दर्शन उन्हें आकृष्ट करने लगा । एक दिन कलकत्ता-निवासकालमें वे पुरीका वर्णन सुनकर प्रेमविमोर हो गये । 'शचीनन्दन, शचीनन्दन' कहकर चैतन्य महाप्रभुके प्रेममें उन्मत्त हो गये । उन्होंने

कहा कि 'मेरा कोई संगी-साथी नहीं है। मैं जगन्नाथदेवका दर्शन करनेके लिये पुरी जाऊँगा। मेरे पूर्वज अद्वैताचार्य-ने पुरीमें चैतन्यदेवकी कृपासे जगन्नाथका दर्शन कर अपना जीवन धन्य कर लिया था। मेरे पिताने शान्तिपुरसे साष्टाङ्ग दण्डवत् करते-करते पुरीकी यात्रा की थी। उनके पद क्षत-विक्षत और रक्ताद्रि हो गये। उनमें छाले पड़ गये, पर वे निरस्त न हो सके। मैं लाठी लेकर पुरी जाऊँगा। मैं पैदल जाकर चैतन्य महाप्रभुकी लीला-माधुरीसे सम्पन्न जगन्नाथ-क्षेत्रमें अपना जीवन कृतार्थ करूँगा। मेरे इस पवित्र कर्मसे अद्वैताचार्यकी आत्माको बड़ी शान्ति मिलेगी।' यों कहकर वे पुरीकी ओर चल पड़े। उन्होंने कहा कि 'मैं अकेला जाऊँगा। मेरे साथ कोई नहीं जायगा।' विदाका दृश्य बड़ा ही करुण था। उन्होंने कहा कि 'आपलोग मुझे आशीर्वाद दें कि जगन्नाथजी मुझे अपना लें।' श्रद्धालु शिष्योंसे यह करुण दृश्य नहीं देखा गया। उन्होंने साथ चलनेका हठ किया, जिसे वे दयावश टाल न सके। फलतः वे पचास शिष्योंके साथ पुरीमें उपस्थित हुए। पुरी-प्रवेशके समय वे प्रेममग्न होकर नृत्य करने लगे। उन्होंने समुद्रमें स्नान कर भगवान् जगन्नाथका दर्शन किया। उन्होंने ज्योतिःस्वरूप चिदानन्दधन जगदाधारकी झाँकी देखी, प्रभुके पादपद्मोंमें निवेदन किया। उनका पद है—

चिर दिन ज्वलित कि हृदय-अनले प्रभो।
कै विषय-वासना, पापेर वेदना एखनोत धूचिल ना॥
देह दर्शन, जुड़ाइ हे नयन, नाहि प्रयोजन अन्य कोन धन
प्रभु तोमार चरण अमूल्य रतन, आमि शुनेलि हे;

दुखानले दग्ध ह'ल हे जीवन, ओहे दीननाथ रुझाम शरण
दरिद्रेर दुःख कर हे मोचन, दरिद्रेर दुःखहारी हे।

इसका आशय यह है कि 'हे प्रभो! क्या मैं चिरकाल-तक हृदयकी ज्वालामें जलता रहूँगा? क्या करूँ? कोई भी विषय-वासना तथा पापकी वेदना अबतक समाप्त न हुई। हे प्रभो! आप अपने दर्शनसे मुझे कृतार्थ कीजिये, मेरे नयन शीतल हो जायेंगे, मुझे किसी दूसरे धनकी आवश्यकता नहीं है। प्रभो! मैंने सुना है कि आपका चरण अमूल्य रत्न है। मेरा जीवन दुःखकी आगमें दग्ध हो चुका है। हे दीननाथ! मैंने आपकी शरण ले ली है। आप दरिद्रों-का दुःख दूर करनेवाले हैं। मेरे-जैसे दीन-हीनका दुःख दूर कीजिये।'।

वे नित्य समुद्र-स्नान करनेके लिये जाया करते थे। समुद्रतटके स्वर्णिम बालुका-कणोंमें लोट-लोटकर बड़े उल्लसित होते थे। पुरीमें उन्होंने दरिद्रनारायणकी सेवाका व्रत लिया था। देह क्षीण होनेपर शिष्योंने 'कलकत्ता' चलनेका प्रस्ताव किया तो उन्होंने कहा—'मेरे एकमात्र आश्रय जगन्नाथदेव हैं। मैं उन्हें छोड़कर कहीं नहीं जा सकता।' महाप्रसादके साथ उन्हें किसी दुष्ट आत्माने विष खिला दिया। उनका शरीर रुग्ण हो चला। संवत् १९५६ वि०के ज्येष्ठ मासकी कृष्ण द्वादशीको दस बजे दिनके लगभग उन्होंने ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त किया। पुरीमें नरेन्द्र सरोवरके उत्तर शिष्योंने उन्हें समाधि प्रदान की। उनका जीवन भक्ति, ज्ञान और कर्मका मधुर समन्वय था। वे अलौकिक प्राणी थे, अद्भुत महात्मा थे।

चेतावनी

चलत कत टेढ़ी-टेढ़ी रे।

नऊँ दुवार नरक धरि मूँदे, तू दुरगंधि कौ बेढ़ी रे॥
जे जारै तौ होइ भसम तन, रहि त किरम उहि खाई।
सूकर-खान-काग को भखिन, तामैं कहा भलाई॥
फूटे नैन, हिरदै नहिँ सूझै, मति एकै नहिँ जानी।
माया-मोह-ममिता सँ बाँध्यौ, बूढ़ि सुबौ बिन पानी॥
वारू के घरवा मैं बैठौ, चेतत नहीं अयानाँ।
कहै कबीर एक राम-भगति बिन, बूढ़े बहुत सयानाँ॥

भक्ति एक विज्ञान है

(लेखक—डॉ० श्रीअवधविहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल०)

साधारण दृष्टिकोणसे भक्ति और विज्ञान एक-दूसरेके विरोधी हैं। भक्तिके आधार हैं—श्रद्धा, विश्वास और शरणागति; तथा विज्ञानके निरीक्षण, परीक्षण और प्रयोग। भक्त विश्वास करता है, शङ्का नहीं करता; विज्ञान शङ्का किये बिना रह नहीं सकता। भक्त कहता है—‘संशयात्मा विनश्यति।’ विज्ञान कहता है—संशय सत्यको जन्म देता है। भक्त श्रद्धाको कलेजेसे लगाकर रखता है, जैसे अंधा अपनी लकड़ीको उसे सारी मंजिल उसीके सहारे तय करनी होती है। वैज्ञानिक एक कदम भी आगे नहीं रखता, जबतक वह उसके लिये निश्चयात्मक ज्ञानका ठोस आधार तैयार नहीं कर लेता। भक्तकी उपलब्धियाँ उसके हृदय-क्षेत्रतक ही सीमित रहती हैं, विज्ञानकी उपलब्धियाँ सार्वजनिक होती हैं। भक्त अपना हृदय चीरकर अपनी उपलब्धियोंको दूसरोंके समक्ष नहीं रख सकता; वैज्ञानिक प्रयोगशालाओंमें अपने प्रयोगोंको बार-बार दुहराकर विश्वके सामने रख सकता है।

आजका युग विज्ञानका युग है। इसलिये आजका अपनेको प्रगतिशील माननेवाला साधारण व्यक्ति भक्तिको अंधविश्वास, रुढ़िवाद और पिछड़ेपनका प्रतीक माने तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पर आश्चर्यकी बात यह है कि विज्ञानकी ध्वजा फहरानेवाले इस बातका दावा करते हैं कि वे अपने भक्तिष्ककी खिड़कियाँ सदा खुली रखते हैं और किसी भी तथ्यको तबतक स्वीकार या अस्वीकार नहीं करते, जबतक वैज्ञानिक ढंगसे उसे परख नहीं लेते; धर्म-जगत्के तथ्योंके प्रति विपरीत ढंगसे व्यवहार करते हैं—विशेषरूपसे भक्तिके प्रति, जिसे वे बिना परखे कोरी भावुकता (sentimentalism) मान बैठते हैं।

वैज्ञानिक कहते हैं कि भक्तिका विषय विज्ञानकी परिधिमें नहीं आता। यह उनकी एक बड़ी भूल है। भक्ति भी एक विज्ञान है, उतना ही जितना भौतिक-विज्ञान (Physics) या और कोई विज्ञान। भक्तिमें भी वैज्ञानिक विधियोंका उतना ही प्रयोग होता है, जितना अन्य किसी विज्ञानमें। भक्तिमें भी निरीक्षण और प्रयोग होते हैं। भक्तिके सिद्धान्त भी उसी प्रकार भक्तिके क्षेत्रमें किये गये प्रयोगोंके परिणाम हैं, जिस प्रकार अन्य किसी विज्ञानके नियम

उस विज्ञानके क्षेत्रमें किये गये प्रयोगोंके परिणाम हैं। भक्तिके नियमोंकी भी हम उसी प्रकार जाँच कर सकते हैं, जिस प्रकार और किसी विज्ञानके नियमोंकी।

अन्तर केवल इतना है कि अन्य विज्ञानोंके विषय और उनपर किये जानेवाले प्रयोगोंके उपकरण बाह्य जगत्की वस्तुएँ होती हैं, जिनमें परिवर्तन आसानीसे किये जा सकते हैं। पर भक्तिसम्बन्धी प्रयोगोंके न तो विषय ही बाह्य जगत्के होते हैं और न उनके उपकरण ही। भक्तिकी प्रयोग-शाला मनुष्य स्वयं है। भक्तिके प्रयोगोंमें उसे सब कुछ अपने अन्तरमें करना होता है। इसीलिये यह प्रयोग उत्तने आसान नहीं होते। वैज्ञानिक रीतिसे किसी विषयका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आवश्यक होता है कि उस विषयका पृथक् रूपसे उसकी असली और शुद्ध अवस्थामें अध्ययन किया जाय। पर प्रकृति इतनी संसृष्ट है कि कोई वस्तु हमें अपने शुद्धरूपमें नहीं मिलती। दूसरी अनेक वस्तुएँ उससे मिली-जुली होती हैं। वैज्ञानिक प्रयोगशालामें उसे उन सभी वस्तुओंसे पहले अलग कर लेता है। तब उसमें तरह-तरहके परिवर्तन करके देखता है कि उनका क्या परिणाम हुआ। तभी वह उसके गुण-दोष और उनसे सम्बन्धित नियमों (laws) की खोज कर पाता है।

मनुष्यका अपना आत्मा भी उसी प्रकार अपनी विशुद्ध अवस्थामें नहीं है। वह देहसे संसृष्ट है, देहात्मबुद्धियुक्त है। मायाका आवरण उसपर पड़ा है। काम, क्रोध, मद, मात्सर्य, लोभ और मोहसे वह दूषित हो रहा है। भक्ति शुद्ध आत्माका धर्म है। भक्तिके प्रयोगमें विषयोंसे आत्माका सम्बन्ध तोड़कर भगवान्से जोड़ना होता है; यह एक लंबा प्रयोग है। इसमें पूरा जन्म लगा सकता है। कई जन्म भी लगा सकते हैं। कठिन भी यह बहुत है। विषयासक्तिसे आत्माको मुक्त करना आसान नहीं। मनुष्यके लिये चन्द्रमा-तक उड़कर जाना आसान है, पर विषयोंसे थोड़ा भी ऊपर उठना आसान नहीं। समुद्रकी तहमें जाकर मुक्ता-राशि निकाल लाना आसान है, पर अपने देह, मन, बुद्धि, अहंकार आदिके तलमें जाकर अपने ही आत्मस्वरूपकी उपलब्धि करना आसान नहीं।

इन प्रयोगोंकी कठिनाई ही वैज्ञानिकोंद्वारा इनकी उपेक्षाका कारण है। मनुष्यका स्वभाव है कि जो विषय उसे कठिन जान पड़ता है, उसकी वह उपेक्षा करता है और ऐसा करनेके लिये कोई-न-कोई कारण ढूँढ़कर आत्मतुष्टि कर लेता है। पर संसारमें ऐसे लोगोंकी कमी नहीं, जिन्होंने इन प्रयोगोंको किया है। भक्त-गाथाएँ उनके प्रयोगोंसे भरी पड़ी हैं। भक्तिके सिद्धान्त और नियम आदि उन्हीं प्रयोगोंपर आधारित हैं। गीता, भागवत, नारद-भक्तिसूत्र, भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, भक्तिसंदर्भ आदि ग्रन्थोंमें भक्तिके नियमोंका, उसके विभिन्न प्रकार, स्तर और अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका विस्तृत और व्यवस्थित विवेचन है, जिसके आधारपर कहा जा सकता है कि भक्ति विज्ञानके किसी भी मापदण्डके अनुसार एक विज्ञान है।

विज्ञानका अर्थ है—किसी विषयका यथार्थ और नियमित ज्ञान। इसलिये यदि हमें निर्णय करना हो कि किसी विषयके ज्ञानको 'विज्ञान'की संज्ञा देना कहाँतक उचित है तो उसे इन दो कसौटियोंपर कसके देखना होगा—

(१) वह ज्ञान कहाँतक यथार्थ है ?

(२) वह कितना नियमित है, अर्थात् उस विषयसे सम्बन्धित नियमोंपर वह कितना प्रकाश डालता है और वे नियम कितने व्यापक और सुनिश्चित हैं ?

इन दोनों कसौटियोंपर भक्ति-विज्ञान जितना खरा उतरता है, उतने और विज्ञान खरे नहीं उतरते। बल्कि यदि कहा जाय कि केवल भक्ति-विज्ञान ही खरा उतरता है तो भी अनुचित न होगा; क्योंकि आजके बड़े-बड़े वैज्ञानिक प्रायः सभी इस बातकी साक्षी भरते हैं कि विज्ञान न तो किसी विषयके वास्तविक रहस्यका उद्घाटन कर पाता है और न उसके नियम सुनिश्चित और अवश्यम्भावी हैं।

भौतिक-विज्ञानका उदाहरण लेकर इस बातको अच्छी तरह समझाया जा सकता है; क्योंकि जितनी भौतिक-विज्ञानने प्रगति की है उतनी और किसी विज्ञानने नहीं की और भौतिक-विज्ञानका विषय अधिकांश विज्ञानोंका आधारभूत विषय भी है। वैज्ञानिकोंने भौतिक-जगत्के पदार्थोंका विश्लेषण कर यह मालूम किया कि छोटे-से-छोटे पदार्थ भी करोड़ों परमाणुओं (electrons) के संयोगसे

बना है। इसलिये वे परमाणुके अध्ययनमें लगे गये। पर परमाणु उनके लिये एक पहेली बनकर रह गया। उसके वास्तविक स्वरूपके ज्ञानकी बात तो दूर रही; उन्हें यह भी निर्णय करनेमें कठिनाई बोध होने लगी कि वह ठोस है या कोई तरल पदार्थ ! वह कभी तो एक कण (particle)-जैसा व्यवहार करता जान पड़ता और कभी लहर (wave)-की तरह लहराता जान पड़ता। उन्होंने उसे एक ऐसा पदार्थ मान लिया, जो कण भी है और लहर भी। यद्यपि 'कण' और 'लहर' के प्रत्यय परस्पर विरोधी हैं। (wave) और particle, इन दोनों शब्दोंको जोड़कर उन्होंने उसे (wavicle) की संज्ञा दे डाली; पर उन्होंने निश्चय किया कि उसका स्वरूप जो भी हो, वह एक शक्ति (energy) है—एक गति (process)। स्वाभाविक रूपसे प्रश्न हुआ कि वह शक्ति या गति किसकी है; क्योंकि शक्ति किसी शक्तिमान्की और गति किसी गतिशील पदार्थकी ही हो सकती है। विज्ञान आजतक इस प्रश्नका उत्तर नहीं दे सका। आगे दे सकेगा; इसकी भी कोई सम्भावना नहीं है; क्योंकि उसकी नजरमें शक्तिके सिवा कोई दूसरी वस्तु रह ही नहीं गयी है, जिसके प्रति संकेत करके वह कह सके—शक्ति इसकी है। इसलिये जड़-वस्तुमात्रका स्वरूप उसे अज्ञात रह गया है और जड़-तत्त्व (matter)-के बारेमें उसे C. I. H. Goad के शब्दोंमें यह कहनेको बाध्य होना पड़ा है कि 'जड़-तत्त्व (matter) के बारेमें मैं निश्चितरूपसे सिर्फ इतना जानता हूँ कि वह क्या है, मैं नहीं जानता—Matter is I know not what.'

भौतिक-विज्ञान जब इस निष्कर्षपर पहुँच जाता है कि जड़-वस्तुमात्र शक्ति है, तो यह सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं रहती कि इस शक्तिका आश्रय अथवा स्वामी कोई चेतन सत्ता ही हो सकती है। आइन्स्टीन (Einstien), एडिंग्टन (Eddington) और जेम्स जीन्स (James Jeans)-जैसे कुछ वैज्ञानिकोंने इसी प्रकारका संकेत दिया है। पर भौतिक-विज्ञान ऐसा संकेत या अनुमान करनेके सिवा और कुछ नहीं कर सकता। उसके पास कोई ऐसा साधन नहीं, जिससे वह उसका प्रत्यक्ष कर सके और उसे निकटसे जान सके। ऐसा न कर सकनेके कारण वह किसी भी वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है।

पर भक्ति-विज्ञानका सम्बन्ध सीधे उस चेतन सत्तासे

है। भक्त जानता है कि जिस शक्तिका विस्तार भौतिक-विज्ञान सारे जगत्में देखता है, वह उसी चेतन सत्ता (परब्रह्म) की शक्ति है—

एकदेशस्थितस्याग्नेज्योत्स्ना विस्तारिणी यथा ।

परस्य ब्रह्मणः शक्तिस्तथेदमखिलं जगत् ॥

(विष्णुपु० १ । २२ । ५६)

‘जिस प्रकार एक स्थानमें प्रचलित अग्नि की किरणें चारों ओर फैली रहती हैं, उसी प्रकार परब्रह्म—भगवान् की शक्ति सारे जगत्के रूपमें सर्वत्र विस्तृत है।’

यह न केवल उसका अनुमान है और न केवल शास्त्रों-के आधारपर माना हुआ एक सिद्धान्त। भक्ति उसे इसका साक्षात् अनुभव कराती है—

‘भक्तिरेवैनं दर्शयति ।’

—श्रुति

यह बहुत सूक्ष्म तत्त्व है। किसी भी प्राकृत विज्ञानके द्वारा इसे जानना सम्भव नहीं। शुद्ध अन्तःकरणसे ही इसे जाना जा सकता है। भक्तिके प्रभावसे धीरे-धीरे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और तब उसे इसका साक्षात्कार हो जाता है। भगवान् ने स्वयं कहा है—

यथा यथाऽऽत्मा परिसृज्यतेऽसौ

मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।

तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं

चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २६)

‘जैसे अञ्जनके उत्तम प्रयोगसे दृष्टि निर्मल होकर सूक्ष्म वस्तुको देखनेमें समर्थ हो जाती है, उसी प्रकार जैसे-जैसे मेरी पवित्र कथाके श्रवणसे मनुष्यका चित्त शुद्ध होता है, वैसे-वैसे वह मेरे इस सूक्ष्म तत्त्वको देखनेमें समर्थ होता है।’

विज्ञानके किसी सिद्धान्तकी भाँति भक्ति-विज्ञानका यह आधारभूत सिद्धान्त परीक्षणोंद्वारा सिद्ध किया जा सकता है। इतिहास इसके अनेकों सफल परीक्षणोंका साक्षी है। प्रह्लादने स्तम्भमें, द्रौपदीने साड़ीमें और मीरोंने राणाकी मेजी हुई साँपकी पिटारीमें परब्रह्म भगवान्को प्रकटकर सिद्ध किया था कि सभी भौतिक पदार्थ उनकी शक्तिका परिणाम हैं और वे शक्तिमान्के रूपमें सर्वत्र विराजमान हैं।

अब रही भौतिक-विज्ञानके नियमोंकी बात। सत्रहवीं शताब्दीमें गैलीलिओ (Galileo) और न्यूटन (Newton)-के समयसे भौतिक-विज्ञानमें (Mechanistic Theory)-का बोलचाल था। वैज्ञानिकोंका दृढ़ विश्वास था कि सारा विश्व एक विशाल यन्त्र (machine) है और यान्त्रिक नियमों-द्वारा परिचालित होता है। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्ततक यन्त्रवादका इतना विस्तार हो गया और कार्य-कारणका यान्त्रिक नियम इतना सार्वभौम माना जाने लगा कि मनुष्य स्वयं भी-उसका शिकार बन गया। उसका इच्छा-स्वातन्त्र्य एक भ्रम समझा जाने लगा और उसकी सभी क्रियाएँ किसी यन्त्रकी क्रियाओंकी भाँति बाहरी वातावरणकी उसके ऊपर हुई क्रियाओंकी यान्त्रिक प्रतिक्रिया मात्र समझी जाने लगीं। इच्छा-स्वातन्त्र्यके साथ मनुष्यकी नैतिकता और उसकी धार्मिक भावनाएँ यन्त्रवादकी भयंकर बाढ़में बह चलीं।

बीसवीं शताब्दी विज्ञानके क्षेत्रमें एक ऐसी क्रान्ति लेकर आयी, जिसने विज्ञानकी प्रायः सभी मौलिक मान्यताओंको जड़से उखाड़कर फेंक दिया। क्रान्तिकारण था—विज्ञानके रंगमञ्चपर परमाणुओंका प्रवेश। परमाणु यन्त्रवादके विरुद्ध इनकलाबी नारे लगाते आये और यन्त्रवादको सदाके लिये रंगमञ्चको छोड़कर चला जाना पड़ा। अभीतक वैज्ञानिक जड़ पदार्थके जिन छोटे-से-छोटे कणोंको जड़ पदार्थकी अन्तिम इकाईयों मानते थे और जिनके और छोटे टुकड़े करनेमें वे असमर्थ थे, वे करोड़ों परमाणुओंके समूह सिद्ध हुए। उन परमाणुओंकी गति-विधियोंका व्यक्तिगत रूपसे अध्ययन करनेपर जान पड़ा कि वे उनमेंसे किसी नियमके अधीन नहीं हैं, जो परमाणुओंके समूह अर्थात् साधारण जड़ पदार्थोंपर लागू होते हैं। वे अपने व्यवहारमें पूर्ण स्वतन्त्र हैं। कार्य-कारणका नियम जो समस्त विज्ञानोंका मूलधार है, उसका उनकी दुनियामें कोई अस्तित्व नहीं है। उनका व्यवहार पूर्णरूपसे उनकी स्वतन्त्र इच्छाके अनुसार होता जान पड़ता है। यदि कोई नियम उनपर लागू होता है तो वह प्रोफेसर हाइसेनबर्ग (Prof. Heisenberg)

1. ‘The concept of strict causation finds no place in the picture of the universe, which the new physics presents to us.’—James Jeans: ‘Mysterious Universe’, p. 43.

के शब्दोंमें अनियमितता या अनिश्चितताका नियम (Principle of Indeterminacy) है ।

ऐसी स्थितिमें यदि हमें अपने दैनिक व्यवहारमें परमाणुओंसे सीधा काम पड़ता तो हमारा जीवन असम्भव होता । पर भाग्यवश परमाणु हमारी दृष्टिसे ओझल रहते हैं और हमारे व्यवहारमें वे पदार्थ आते हैं, जिनमेंसे छोटे-से-छोटा पदार्थ भी अनन्त परमाणुओंका समूह है । व्यक्तिगत-रूपसे परमाणुओंकी क्रिया कितनी ही अनियमित और अनिश्चित क्यों न हो, समूहमें उनकी क्रियाएँ उन नियमोंके अनुरूप होती हैं, जिनकी समष्टि हमारा विज्ञान है ।

पर विज्ञानके ये नियम वस्तुगत नहीं हैं । परमाणु समूहमें भी अपनी स्वतन्त्रता नहीं छोड़ देते । उनकी क्रियाएँ उतनी ही अनिश्चित रहती हैं, जितनी व्यक्तिगत रूपमें । सामूहिक रूपमें उनके व्यवहारमें जो एकरूपता (uniformity) दिखलायी देती है, उसका कारण यह है कि हम उन परमाणुओंकी क्रियाओंको अलग-अलग ग्रहण नहीं करते । ग्रहण करते हैं उनकी सामूहिक क्रियाओंके औसत-को । जेम्स जीन्स (James Jeans) ने इसे एक उदाहरण देकर समझाया है । यदि हम दो पैसेका एक सिक्का आकाशमें उछालें तो हम यह नहीं कह सकेंगे कि वह उल्टा गिरेगा या सीधा । सौ, दो सौ सिक्के उछालें तो भी हम नहीं कह सकेंगे कि कितने सीधे गिरेंगे और कितने उल्टे । पर यदि हम उनकी संख्या बढ़ाते जायें तो गणित-शास्त्रके औसतोंके नियम (Law of Averages) के अनुसार उल्टे और सीधे गिरनेवाले सिक्कोंकी संख्यामें अन्तर कम होता जायगा; यहाँतक कि यदि हम दस लाख टन सिक्के एक साथ उछालें तो यह निश्चित है कि पाँच लाख टन सीधे गिरेंगे और पाँच लाख टन उल्टे । यह देखकर हम मान लेंगे कि सिक्कोंकी क्रियामें एकरूपता है और उस एकरूपताको विज्ञानके एक नियमका रूप दे डालेंगे । पर वास्तविकता यह है कि एकरूपता केवल गणितशास्त्रके औसतोंके नियमके अनुसा दीखती है । जहाँतक प्रत्येक दो पैसेके सिक्केका प्रश्न है, उसकी व्यक्तिगत क्रियामें, उस समूहमें भी एकरूपता नहीं है । इसी प्रकार जो एकरूपता औसतोंके नियमके अनुसार परमाणुओंके विशाल समूहमें दीखती है, वह उसकी इकाईमें या उसके अल्पसंख्यक समूहमें नहीं होती । दस लाख

टनमें जितने दो पैसेके सिक्के होते हैं, उनसे कहीं अधिक परमाणु एक छोटे-से-छोटे भौतिक पदार्थमें होते हैं । इसीलिये हमें उसकी क्रियामें एकरूपता दीख पड़ती है । एकरूपता वस्तुओंका स्वरूपगत लक्षण नहीं है । वह गणितशास्त्रकी देन है ।^१ यही पुराने विज्ञानमें व्याप्त एकरूपता और नियमबद्धताके भ्रमका रहस्य है, जिसे नया विज्ञान दूर करता है ।

इसीलिये नया विज्ञान अपने नियमोंको सम्भवात्मक (probable) मानता है, निश्चयात्मक (necessary) नहीं । परमाणुओंका समूहमें गठवन्धन, जिसके कारण हमें सांसारिक पदार्थोंकी नियमबद्धताका भ्रम होता है, किस प्रकार होता है और कबतक टिका रहेगा, यह विज्ञान नहीं जानता । कभी भी परमाणुओंका विघटन हो सकता है और उनके विघटनके साथ-साथ वस्तुओंका और उनकी नियम-बद्धताके भ्रमका भी अन्त हो सकता है । सूर्य प्रतिदिन नियमपूर्वक पूर्व दिशामें उदित होता है । कल भी उदित होगा या नहीं, यह विज्ञान पूर्ण निश्चयके साथ नहीं कह सकता, यद्यपि इस यातकी सम्भावना विज्ञानकी दृष्टिमें इतनी अधिक है कि उसकी अनिश्चितताके कारण हमें अपनी नौद हराम करनेकी आवश्यकता नहीं ।

भक्ति-विज्ञानकी स्थिति किसी अंशमें भौतिक विज्ञानके सदृश होते हुए भी उससे कहीं अच्छी है । जीव और ईश्वर दोनों भौतिक विज्ञानके परमाणुओंके समान स्वतन्त्र हैं । उनके व्यवहारको एकरूपता और कार्य-कारणके नियमोंकी शृङ्खलामें नहीं बाँधा जा सकता । पर जिस प्रकार सामूहिक क्षेत्रमें परमाणुओंकी स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचारिताका स्थान नियमबद्धता लेती जान पड़ती है, उसी प्रकार भक्तिके क्षेत्रमें ईश्वर और जीवकी स्वाधीनताका स्थान पराधीनता ले लेती है । भक्तिके क्षेत्रमें ईश्वर भी उतना ही पराधीन है, जितना जीव । परम स्वतन्त्र होते हुए भी वह प्रेम-परतन्त्र है—

यद्यपि ईश्वर तुमि परम स्वतन्त्र ।

तथापि स्वभावे ह्यो प्रेम-परतन्त्र ॥

(चैतन्य-चरितामृत, म० १२ । २९)

1. "When we are dealing with atoms and electrons in crowds, the mathematical law of averages imposes the determinism, which physical laws failed to provide." *Ibid* P. 42.

भक्तिका सम्बन्ध न तो उस जीवसे है, जो स्वतन्त्र और स्वेच्छाचारी है और न उस ईश्वरसे, जो पूर्ण स्वतन्त्र है। भक्तिका सम्बन्ध उस भक्तसे है, जो भगवान्‌के हाथ विक चुका है और उन भगवान्‌से, जो भक्तके हाथ विक चुके हैं। भक्त कहता है—मैं भगवान्‌का हूँ। वे जैसे रखेंगे वैसे रहूँगा—

जो पहिरावे सोई पहूँ, जो दे सोई खाऊँ।

मेरी टनकी प्रीत पुरानी, उन विन फल न रहाऊँ ॥

जहाँ बैठवे तहाँ ही बैठूँ, बेचे तो विक जाऊँ।

—मीराबाई

भगवान् कहते हैं—मैं भक्तोंके पराधीन हूँ। मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है—

‘अहं भक्तराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।’

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

मैं उनके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ, जिससे उनके चरणोंकी रज उड़कर मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ—

‘अनुग्रजाम्यहं नित्यं पूयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥’

(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

भक्त भगवान्‌के इशारेपर नाचता है, भगवान् भक्तके इशारेपर। और सच पूछिये तो दोनों नाचते हैं प्रेमके इशारेपर। प्रेम दोनोंका इष्ट है। भक्तिके साम्राज्यमें प्रेम ही सम्राट् है। भगवान् और भक्त दोनों उसकी प्रजा हैं। भगवान् उसी तरह उसके इशारेपर नाचते हैं, जैसे कोई नटका शिष्य अपने गुरुके इशारेपर नाचता है—

राधिका प्रेम गुरु, आमि शिष्य नट।

सदा आमा नाना नृत्ये नाचाय उद्धट ॥

(चैतन्यचरितामृत, आ० ४।१२४)

प्रेमके साम्राज्यमें न कोई सेवक है न स्वामी, न कोई भक्त है न भगवान्। वहाँका भगवान् है प्रेम, जिसे रसिक भक्त ‘रस’ भी कहते हैं—

‘रसौ वै सः।’

इस रसमें ऐसी मादकता है कि यह भक्तका भक्ताभिमान और भगवान्‌की भगवत्ता, नायकका नायकत्व और नायिकाका नायिकात्व भुलाकर दोनोंको तरह-तरहके खेल खिलाता रहता है—

‘नायक तहाँ न नायिका, रस करवावत केलि।’

(श्रवदास)

भगवान्‌की रास-लीलामें न तो भगवान् ही अपनी स्वतन्त्र इच्छासे लीला करते हैं न गोपियों। रस ही दोनोंसे नृत्य कराता है। इसलिये उस नृत्यका नाम ‘रस’ है।

पूर्णरूपसे प्रेमके अधीन होनेके कारण भक्त और भगवान् पूर्णरूपसे प्रेम या भक्तिके नियमोंके भी अधीन हैं। उनका उल्लङ्घन करनेकी स्वतन्त्रता उनमें नहीं है। भक्तिके नियम भौतिक-विज्ञानके नियमोंकी तरह न तो औसतोंके नियम हैं और न वे केवल सम्भावनात्मक ही हैं। वे वस्तुगत और निश्चयात्मक हैं। उदाहरणरूपसे भौतिक शास्त्रके मध्याकर्षणके नियम (Law of Gravitation) के समान, जिसके अनुसार पृथ्वी सभी भौतिक पदार्थोंको अपनी ओर आकर्षित करती है, भक्तिका एक नियम है कि वह भगवान्‌को अपनी ओर आकर्षित करती है। इसलिये भगवान्‌के भक्त जहाँ उनका गुणगान करते हैं, वहाँ वे आप ही खिंच आते हैं और आसन जमाकर बैठ जाते हैं—

‘भक्त्या यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥’

(आदिपुराण)

यह नियम अटल है। इसके विपरीत मध्याकर्षणके नियमके बारेमें भौतिक-विज्ञान कहता है कि अभीतक संसारके सारे पदार्थ इसके द्वारा परिचालित होते रहे हैं और इस बातकी लगभग पूरी सम्भावना है कि आगे भी ऐसा होता रहेगा। पर विज्ञानके पास ऐसा कोई आधार नहीं है, जिसके बलपर वह कह सके कि निश्चय ही आगे भी ऐसा होता रहेगा। भक्तिका यह नियम पूर्णरूपसे निश्चित है कि वह भगवान्‌को सदा आकर्षित करती रहेगी; क्योंकि भक्ति और भगवान्‌का स्वरूप ही ऐसा है। यह स्वरूप नित्य है, इसलिये यह नियम भी नित्य है। यह सम्भव है कि फल टूटकर वृक्षपर ही रह जाय और पृथ्वी उसे आकर्षित न कर सके; पर यह सम्भव नहीं कि भक्ति-क्रमल किसी भक्तके हृदय-सरोवरमें खिले और भगवान्‌रूपी मौँरा उसकी ओर आकर्षित न हो।

इसी प्रकार और भी भक्तिके नियम हैं, जो अटल, अव्याहत हैं, जैसे—भगवान्‌को जो जैसे भजता है, भगवान् भी उसे वैसे ही भजते हैं—

‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।’

(गीता ४।११)

जो सब धर्मोंको त्यागकर अनन्यभावसे भगवान्की शरणमें आता है; उसे भगवान् सब पापोंसे मुक्त कर देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८ । ६६)

जो अनन्य भावसे भगवान्का चिन्तन करता है, उसका योगक्षेम भगवान् स्वयं वहन करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

जो अन्तकालमें भगवान्का स्मरण करते हुए शरीर-त्याग करता है, वह भगवान्के साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥

(गीता ८ । ५)

भक्तिके नियमोंमें कभी किसी प्रकारका व्याघात होनेका प्रश्न इसलिये नहीं उठता कि भक्ति पूर्णरूपसे स्वतन्त्र और निरपेक्ष है । अन्य सभी ज्ञान और विज्ञान अन्य किसी-न-किसी वस्तुकी अपेक्षा रखते हैं—यदि और

किसी वस्तुकी नहीं तो भगवान्की अपेक्षा तो रखते ही हैं; उनके नियमादि सब भगवान्की इच्छाके अधीन होते हैं; पर भक्ति भगवान्की अपेक्षा भी नहीं रखती; अपितु भगवान् ही भक्तिकी अपेक्षा रखते हैं ।

भक्तिके द्वारा प्राप्त ज्ञानके अयथार्थ होनेका प्रश्न इसलिये नहीं उठता कि भगवान् सभी ज्ञान-विज्ञानके मूल और स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं—ज्ञानं ज्ञानवतामहम्—और भक्त उन्हें तत्त्वसे जानता है—

‘भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।’

(गीता १८ । ५५)

भगवान् भक्तके हस्तामलकवत् रहते हैं । उनका कोई भी रहस्य उससे छिपा नहीं रहता । उनका हृदय ही जैसे उसके हाथमें होता है—

‘साधुभिर्ग्रस्तहृदयः’

(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६३)

इस प्रकार विज्ञानकी दोनों कसौटियोंपर यदि कोई विज्ञान पूरी तौरसे खरा उतरता है तो वह भक्ति-विज्ञान है । इसलिये भक्ति ही श्रेष्ठ विज्ञान है; भक्ति ही महान् है—

‘भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी ।’

(नारद-भक्तिसूत्र ८१)

साधो ! निन्दक मित्र हमारा

साधो ! निन्दक मित्र हमारा ।

निन्दक कौं निकटे ही राखौं, होन न देउँ नियारा ॥

पाछे निंदा करि अघ धोवै, सुनि मन मिटै विकारा ॥

जैसे सोना तापि अगिन में, निरमल करै सोनारा ॥

घन अहरन कसि हीरा निवटै, कीमत लच्छ-हजारा ॥

ऐसे जाँचत दुष्ट संत कूँ, करन जगत उँजियारा ॥

जोग-जग्य-जप पाप कटन हितु करै सकल संसारा ॥

विन करनी मम करम कठिन सब मेटै निंदक प्यारा ॥

सुखी रहौ निंदक जग माहीं, रोग न हो तन सारा ॥

हमरी निंदा करनेवाला उतरै भवनिधि पारा ॥

निंदक के चरनों की अस्तुति भाखौं वारंवारा ॥

‘चरनदास’ कहै सुनियो साधो, निंदक साधक भारा ॥

—संत चरनदास

पढ़ो, समझो और करो

(१)

कर्तव्य-पालन

वात पुरानी है। गांधीजी दक्षिण अफ्रीकामें गये हुए थे और वहाँ फैले हुए रंगमेदके विरुद्ध सत्याग्रह चला रहे थे। तयतक वे महात्मा नहीं बने थे। उसी बीच एक आवश्यक कार्यसे उनका भारत आना हुआ। एक दिन वे रेलगाड़ीसे यात्रा कर रहे थे। वे तृतीय श्रेणीमें बैठे थे। और भी यात्री डिब्बेमें थे। संयोगकी बात, उसमें बैठे हुए एक व्यक्तिको थूकनेकी इच्छा हुई और उन्होंने डिब्बेके बाहर न थूककर डिब्बेके फर्शपर ही थूक दिया। पासमें बैठे यात्रियोंने इसे देखा, लेकिन वे चुपचाप बैठे रहे; न कुछ कहा, न कुछ किया। गांधीजीको डिब्बेके फर्शपर पड़ा थूक सहन नहीं हुआ। उन्होंने अपने पासके अखबारसे थोड़ा कागज लिया और फर्शपर पड़े थूकको पोंछकर कागज बाहर फेंक दिया। जिस व्यक्तिने थूका था, वह गांधीजीकी इस चेष्टासे चिढ़ गया। उसे चाहिये था कि वह गांधीजीकी इस चेष्टासे शिक्षा लेकर डिब्बेके बाहर थूकता, परंतु उसने अपने मनमें इस प्रकारकी भावना बना ली कि यह सफाई-पसंद व्यक्ति मुझे नीचा दिखानेके लिये फर्शपर पड़ा थूक पोंछकर बाहर फेंक रहा है। ऐसा सोचकर उसने फिर फर्शपर थूक दिया। गांधीजीने पुनः कागजका टुकड़ा लिया और थूक पोंछकर कागज डिब्बेसे बाहर फेंक दिया। अब तो वह व्यक्ति बार-बार थूकने लगा। किंतु गांधीजी भी सामान्य व्यक्ति तो थे नहीं, जो उसकी इस चुनौतीसे विचलित होते। जैसे ही वह व्यक्ति थूकता, गांधीजी उसी प्रसन्नताके साथ उसे कागजसे पोंछकर फेंक देते। डिब्बेमें बैठे सभी व्यक्ति आश्चर्यचकित थे।

थोड़ी देरमें स्टेशन आ गया। प्लेटफार्मपर बड़ी भीड़ जमा थी और गांधीजीकी जगहसे सम्पूर्ण यातावरण गूँज रहा था। ज्यों ही गाड़ी रुकी, भीड़ उस डिब्बेकी ओर दौड़ पड़ी, जिसमें गांधीजी बैठे थे। गांधीजीने डिब्बेका फाटक खोला और दरवाजेपर खड़े होकर हाथ जोड़ कर हँसते-हँसते भीड़का स्वागत किया। थूकनेवाला व्यक्ति यह सब देखकर मौचका-सा हो गया। उसने देखा—फर्शपर पड़े थूकको पोंछनेवाला व्यक्ति कितना श्रद्धास्पद है; कितना सम्माननीय

है। उसे अपनी भूल समझमें आयी और वह अपनी दुस्चेष्टाके लिये बहुत लजित हुआ। वह लपककर गांधीजीके चरणोंपर गिर पड़ा और बार-बार उनसे क्षमा-याचना करने लगा। गांधीजी जनताका स्वागत ग्रहण करनेमें लगे थे। अचानक अपने चरणोंपर किसी व्यक्तिको गिरा हुआ देखकर उन्होंने उस ओर दृष्टि घुमायी। गांधीजी समझ गये कि इस भाईको अपनी दुस्चेष्टाका दुःख है। उन्होंने हँसते हुए कहा—“भैया ! क्षमाकी कोई बात नहीं है। मैंने तो अपना कर्तव्य पालन ही किया है। ऐसा अवसर आनेपर तुम भी ऐसा ही करना।”

थूकनेवाला भाई खड़ा हो गया। उसकी आँखें छलक आयीं।

(२)

हृदयकी विशालता

“भैया ! तुम कल जो पुस्तककी पाण्डुलिपि दे गये थे, उसे मैं आग्रोपान्त पढ़ गया हूँ। तुमने मुझे लक्ष्य बनाकर बहुत ही सुन्दर शैलीमें तीखे व्यंग्य किये हैं। कई स्थलोंपर तो तुमने मुझे जी भरकर गालियाँ दी हैं; पर यह तो बताओ, मुझे गालियाँ देनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा ?” —अपने समयके मूर्खन्य मनीषी फ्रांस-देशके उद्भट विद्वान् एवं प्रबुद्ध साहित्यकार मिस्टर डिडेरोने मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए बहुत ही शान्त स्वरमें युवक लेखकसे कहा।

युवक लेखक शिक्षक मिटाते हुए बोला—“श्रीमन् ! आप यहाँके सुप्रतिष्ठित विद्वान् हैं, किंतु देशमें बहुत-से ऐसे लेखक भी हैं, जो ईर्ष्यावश आपकी खुले-आम आलोचना करते हैं। अतः मैंने सोचा कि यदि मैं आपके लक्ष्य बनाकर एक व्यंग्यपूर्ण पुस्तक लिखूँ तो मैं आपके विरोधियोंका स्नेहभाजन तो हो ही जाऊँगा, पुस्तककी अच्छी बिक्री होनेसे पैसेवाला भी हो जाऊँगा। पर क्या करूँ, मुझे तो अभी अच्छी प्रकार लिखना भी नहीं आता है।”

हँसते हुए बड़े ही प्यारमें भरकर मिस्टर डिडेरोने कहा—
“सचमुच तुमने अपनी दृष्टिसे बहुत अच्छा काम किया है। किंतु इस पुस्तकके प्रकाशनके लिये तुम्हें पैसोंकी भी तो आवश्यकता होगी ? ऐसा करो, एक महाशय मेरे धार्मिक

विचारोंके कट्टर विरोधी हैं। तुम बहुत ही भावपूर्ण शब्दोंमें यह पुस्तक उन्हें समर्पण कर दो। अपनी प्रशंसा देखकर वे मुग्ध हो जायेंगे तथा इस पुस्तकके प्रकाशनमें तुम्हारी आर्थिक सहायता अवश्य कर देंगे।

युवक लेखकने उत्तर दिया—“महाशय ! मेरा भाषापर अधिकार नहीं है तथा मुझे यह भी संदेह है कि मैं ‘समर्पण’ को इतने भावपूर्ण शब्दोंमें लिख भी पाऊँगा क्या, जिसे पढ़कर आपके विरोधी महाशय प्रसन्न हो जायें।”

मिस्टर डिडेरोने उसी शान्त स्वरमें कहा—“भैया ! तुम थोड़ी देर आराम कर लो; मैं अभी तुम्हें इस पुस्तकका ‘समर्पण’ लिख देता हूँ। मेरा विश्वास है, उसे पढ़कर मुझसे मतभेद रखनेवाले महाशय तुम्हारी आर्थिक सहायता अवश्य कर देंगे।”

इतनी बात कहकर विद्वान् महाशय पुस्तकका ‘समर्पण’ लिखनेमें तल्लीन हो गये और थोड़ी ही देरमें उन्होंने ‘समर्पण’ लिखकर तैयार कर दिया। युवक लेखक ‘समर्पण’को देखकर संतुष्ट हो गया। उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि अब उसे अर्थकी प्राप्ति हो जायगी।

ऐसी थी मिस्टर डिडेरोके हृदयकी विशालता ! आत्म-प्रशंसा करनेवाले तथा अपनी प्रशंसा सुननेके इच्छुक व्यक्तियोंको यह घटना सदा सचेत करती रहेगी।

(३)

‘मैं उसके पक्षमें लिख दूँगा’

शुद्ध अन्तःकरणका यह स्वरूप है कि वह किसीके प्रति रुक्ष व्यवहार या कड़ा व्यवहार न कर सकता है न होता देख सकता है। फिर चाहे वह व्यवहार उसकी किसी भूलके लिये ही क्यों न हो। वास्तवमें संतमें शासनके भावका सर्वथा अभाव होता है। वे प्रेमके शासनको ही महत्त्व देते हैं।

लगभग १८ वर्ष पूर्व श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी) के निवास-स्थानपर श्रीराधारानीका जन्मोत्सव था। उन दिनों श्रीभाईजी कुछ अस्वस्थ थे। अपने कमरेमें लेटे रहते थे। गीताप्रेसके एक वरिष्ठ सदस्य तथा एक वरिष्ठ अधिकारी श्रीभाईजीसे मिलनेके लिये गये। रात्रिका प्रथम प्रहर था। श्रीभाईजीने एक तार

लगानेके लिये लिखवाया। वरिष्ठ सदस्य पासके कमरेमें रखे हुए टेलीफोनके पास गये और उन्होंने फोनोग्राम देनेके लिये तारघरका नंबर माँगा। तारवाबूने टेलीफोनपर उत्तर दिया—“अभी थोड़ी देर ठहरकर तार लूँगा।” थोड़ी देर बाद पुनः फोन किया गया, पर तारवाबूने तार लेना स्वीकार नहीं किया; कुछ और ठहरनेके लिये कहा। इस प्रकार रात्रिके नौ बज गये। उन दिनों रात्रिके नौ बजेके बाद तार देनेपर एक रुपया अधिक चार्ज लगता था। तार देनेवाले महानुभावने तारवाबूको फोन किया। तारवाबूने उत्तर दिया—“नौ बज गये हैं; अब तार लेनेका एक रुपया अधिक चार्ज लगेगा।” तार लगानेवाले महानुभावको उनके द्वारा एक रुपया अधिक लेनेकी बात अनुचित लगी और उन्होंने तारवाबूके इस व्यवहारका विरोध करते हुए कहा—“हम एक रुपया अधिक नहीं देंगे। हमने तो बहुत देर पहले तार नोट करनेको कहा था। आपने अबतक तार क्यों नहीं लिया।” इसपर तारवाबू झल्ला गये और इस प्रकार तार देनेवाले सज्जन और तारवाबूमें थोड़ी कहा-सुनी हो गयी। गीताप्रेसके अधिकारी महानुभाव पासमें ही खड़े थे। उन्होंने अपने हाथमें टेलीफोन लिया और थोड़ी कड़ाईके शब्दोंमें तारवाबूको तार लेनेके लिये कहा। साथ ही उन्होंने यह धमकी दी—“यदि आप तार न लेंगे तो हम आपके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करेंगे।” तारवाबूपर इस धमकीका प्रभाव हुआ और उन्होंने बिना अधिक चार्जके ही तार ले लिया।

इस पूरे वार्तालापको श्रीभाईजी कमरेमें लेटे हुए सुन रहे थे। अपने स्वजनोंद्वारा तारवाबूको इस प्रकारके धमकीके शब्द कहना उन्हें सहन नहीं हुआ। उनका नवनीतके समान कोमल संत-हृदय स्वजनोंके इस कठोर व्यवहारसे पिघल गया। उन्होंने तुरंत दोनों स्वजनोंको अपने पास बुलाया। दोनों व्यक्तियोंके आनेपर श्रीभाईजीने कहा—“भैया ! पैसेका लोभ किसको नहीं है। बेचारा एक रुपया ज्यादा माँगता था तो आप उसके प्रति कड़ी कार्रवाई करनेकी धमकी देने लगे। यदि आप उसकी शिकायत करेंगे तो मैं उसके पक्षमें लिख दूँगा.....” श्रीभाईजीके इस प्रकारके वचन सुनकर दोनों स्वजन चुप हो गये। उनके मुखसे एक शब्द भी नहीं निकल रहा था। दोनोंके हृदयमें बड़ी ग्लानि हुई कि हमें तारवाबूके विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करनेकी धमकी नहीं देनी चाहिये थी।

(४)

स्वावलम्बनकी शिक्षा

गुजरातके खेड़ा जिलेके बोचासन गाँवमें 'वल्लभ-विद्यालय' नामका एक विद्यालय है। नवशिक्षकोंको भी वहाँ शिक्षण दिया जाता है।

शिक्षकोंका शिक्षणवर्ष शुरू होनेवाला था। सभी शिक्षक लोग आ चुके थे, केवल एक शिक्षक भाई शामकी गाड़ीसे आनेवाले थे।

विद्यालय स्टेशनके समीप ही था। गाड़ीसे उतरकर उस शिक्षक भाईने सोचा कि विद्यालय दूर होगा; अतः अपने विस्तरको उठानेके लिये वे मजदूरकी खोजमें इधर-उधर देखने लगे। उसी समय विद्यालयके प्रधानाचार्य वहाँ घूमनेके लिये आये हुए थे। उनके सादे वेषसे नवागन्तुक शिक्षक उन्हें पहचान न सके। प्रधानाचार्यने सामने आकर पूछा—'सामान उठाना है क्या ?'

शिक्षक उन्हें पहचान न पाया। उसने सोचा—'यह मजदूर है; मजदूरी करना चाहता है।' उन्होंने उत्तर दिया—'बोले, क्या लोगे ? एक ही विस्तर उठाकर विद्यालयमें पहुँचा देना है।'

'आप जो भी देंगे, ले लूँगा'—कहकर प्रधानाचार्यजीने विस्तर उठा लिया और नवागत शिक्षकको विद्यालयमें पहुँचाकर चल पड़े। शिक्षकने कहा—'अरे भाई ! तुम्हारे पैसे.....'।

'मुझे नहीं चाहिये'—कहकर आचार्य चल दिये।

दूसरे दिन शिक्षाके प्रारम्भकी प्रार्थनामें उन आचार्यको देखकर शिक्षक घबरा गये और प्रार्थना पूरी होनेके बाद उनके कमरेमें जाकर वे क्षमा-याचना करने लगे। आचार्य बोले—'इतने छोटे-से विस्तरको उठानेके लिये आप मजदूर क्यों खोजते रहे ? मजदूर आपसे दुबला-पतला होनेपर भी सामानको उठा सकता है और आप इतने भले-चंगे होकर भी उसे नहीं उठा सकते ?'

शर्मके मारे नीचा मुँह किये शिक्षक बोले—'महाशयजी ! आजसे मैं यथाशक्त अपना बोझ अपने ही हाथोंसे उठाऊँगा।' 'अखण्ड आनन्द'

—रमणलाल च० पटेल

(५)

मुझे नहीं, मेरे पड़ोसीको

केरलके एक छोटे-से गाँवमें कृष्णन् नामका व्यक्ति रहता था। चित्रकारीका काम करके वह अपनी माता, पत्नी और दो छोटे-छोटे बच्चोंका तथा अपना निर्वाह करता था। एक दिन उसके मुसलमान पड़ोसीके घरमें आग लगी। आगकी लपेटमें दो बच्चे फँस गये। मौतके मुँहमें जाकर भला, उन्हें कौन बचाये।

कृष्णन् घटनास्थलपर था। यह दृश्य वह देख नहीं सका। वह आगकी परवा न करके भीतर घुस गया। दोनों बालकोंको बचाकर वह बाहर आया; किंतु स्वयं बुरी तरहसे जल गया था। दो दिनके बाद वह मर गया। कालीकटके 'मातृभूमि' नामक पत्रद्वारा कृष्णन्के कुटुम्बीजनोंके लिये चंदा एकत्रित होने लगा। देखते-देखते चौबीस हजार रुपये एकत्रित हो गये।

जब लोग उस चंदेकी रकम लेकर कृष्णन्की पत्नीको देने लगे, तब उस विशालहृदया देवीने कहा—'मेरे घरका मालिक चला गया; पर हमलोगोंको रहनेके लिये घर तो छोड़ गया है; किंतु मेरे इस पड़ोसीके पास तो रहनेके लिये छप्पर भी नहीं बचा। अतः इस रकममेंसे सर्वप्रथम उन लोगोंको एक मकान बनवा दीजिये। बची हुई रकमसे हमलोग गुजारा कर लेंगे।'

सुननेवाले लोग धन्य-धन्य पुकारने लगे।

'अखण्ड आनन्द'

—अमृत मोदी

(६)

'श्रीरामरक्षास्तोत्र' का अद्भुत प्रभाव

मेरे एक मित्र हैं—श्रीरामनरेशजी शर्मा। आप एक सीमेंट फैक्ट्रीसे सम्बद्ध विद्यालयमें शिक्षक हैं। इसी जुलाईकी बात है, आपके इकलौते चारवर्षीय पुत्रको तेज ज्वर हो गया। ज्वरके साथ बालकको कै भी होने लगी। धीरे-धीरे बालक बेहोश होने लगा, नाड़ी मंद पड़ने लगी तथा शरीर ठंडा होने लगा। बालककी स्थिति उत्तरोत्तर गम्भीर होती देखकर समीपस्थ कस्बेसे सरकारी चिकित्सक महाशयको बुलवाया गया। चिकित्सक महाशयने आते ही बालककी

परीक्षा की तथा एक इंजेक्शन लगाया। बालकके शरीरमें कुछ गर्मी आयी, पर स्थितिमें विशेष सुधार नहीं हुआ। घरवाले चिन्तातुर हो रहे थे। सभी बालककी ओर टकटकी लगाये हुए बैठे थे। बालककी स्थितिमें सुधार होता न देखकर रात्रिको फिर एक अनुभवी चिकित्सक महाशयको बुलाया गया। उन्होंने बताया—‘बालक मृत्युमें संवर्ष कर रहा है, स्थिति गम्भीर होती जा रही है तथा बचनेकी सम्भावना बहुत कम है।’ यह सुनकर परिवारके सदस्य रोने लगे। घरमें कोहराम मच गया। बालककी पुतलियाँ स्थिर होती देखकर कुछ लोगोंको बालकके चल बसनेकी आशङ्का होने लगी।

बालककी इस गम्भीर अवस्थासे पड़ोसी चिन्तित हो गये। मैं भी सूचना प्राप्त होते ही अपने मित्रके घरकी ओर खाना हुआ। मुझे ‘कल्याण’में प्रकाशित ‘श्रीरामरक्षास्तोत्र’के सम्बन्धमें पाँच पुष्पोंके प्रयोगकी घटनाका स्मरण हो आया। मैंने ‘श्रीरामरक्षास्तोत्र’की पुस्तिका तथा पुष्प लिये। इसी बीच सूचना मिली कि बालककी मृत्यु हो गयी है। अपने मित्रपर इस वज्रपातकी बात सुनकर मैं स्तब्ध रह गया, किंतु उसी समय एक महिला ने बताया कि ‘बालककी साँस सर्वथा लुप्त नहीं हुई है, रुक-रुककर चल रही है।’ मैं अविलम्ब बालकके पास पहुँचा। मैंने ‘कल्याण’में बताये अनुसार एक लोटेमें जल लिया; उसमें थोड़ा गङ्गाजल मिला लिया तथा लोटेमें पुष्प भी डाल लिये। सामने श्रीहनुमान्जी महाराजका चित्र रख लिया तथा बहुत ही आतुरभावसे प्रार्थना करके ‘श्रीरामरक्षास्तोत्र’का पाठ करने लगा। पाठ पूरा होनेपर पुष्पसे बालकपर जल छोड़ता जा रहा था तथा वहाँ बैठे सभी लोगोंसे परमपिता परमेश्वरका आतुरभावसे स्मरण करनेके लिये कह रहा था।

‘श्रीरामरक्षास्तोत्र’के चार-पाँच पाठ पूरे होते-होते बालक-पर इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। बालकने धीरे-से करवट बदली। सभीके मनमें आशाका संचार हुआ। मेरा भी उत्साह बढ़ गया। मैं निरन्तर ‘श्रीरामरक्षास्तोत्र’का पाठ करता जा रहा था। इक्कीस पाठ पूरे होते-होते बालक जल माँगने लगा। हमलोगोंकी प्रसन्नताका पार न रहा। पाठके समय जो घृतका दीपक जलाया गया था, उसकी बत्तीका ताप मैं अपने हाथोंसे बालकके शरीरपर लगाने लगा। बालक गम्भीर स्थितिको पार कर गया था। मैंने पूजाके पुष्प

बालकके सिरहाने रख दिये और भगवान् श्रीरामकी महिमाका स्मरण करता हुआ घर लौट आया। कुछ ही दिनोंमें बालक पूर्ण स्वस्थ हो गया।

परमपिता परमेश्वरकी असीम कृपा तथा ‘श्रीरामरक्षा-स्तोत्र’के अद्भुत प्रभावको प्रत्यक्ष अनुभव करके मेरा हृदय गद्गद हो गया।

—भुवनेश्वर पाण्डेय, इचातु (बिहार)

(७)

भूल स्वीकार

ईरानके शाहका स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन खराब होता जा रहा था। बचनेके आसार नजर नहीं आ रहे थे। अन्तमें वहाँके सभी हकीमोंने मिलकर यह निश्चय किया कि यदि निर्धारित लक्षणोंवाले किसी व्यक्तिका पिताशय प्राप्त हो सके तो शाहके जीवनको बचाया जा सकता है।

शासकीय कर्मचारी निकल पड़े और दो-तीन दिनकी खोज-बीनके बाद चाहे हुए लक्षणोंवाले एक बालकको पकड़ लिये। निर्धन मौ-यापका वह सीधा-सादा बालक। पिताको विपुल मात्रामें धन दे दिया गया तो उसने चूँतक न की।

काज़ीसे इस सम्बन्धमें परामर्श लिया गया तो उन्होंने भी कह दिया कि राजाकी प्राण-रक्षाके लिये यदि प्रजाके किन्हीं एक-दो व्यक्तियोंको अपना बलिदान भी देना पड़े तो वह अपराधकी कोटिमें न आयेगा।

वह लड़का राजाके सम्मुख उपस्थित किया गया। सभी हकीम अपनी तैयारीके साथ आये ही थे। जल्लादको तलवारसे काम तमाम करनेकी आज्ञा दे दी गयी। जल्लादने जैसे ही तलवार उठायी कि बालकको ऊपर आकाशकी ओर देखकर हँसी आ गयी।

मृत्युके मुँहमें जाते हुए बालकको इस प्रकार हँसते देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने संकेतसे उस जल्लादको रुकनेके लिये कहा। जल्लादने अपना हाथ नीचे कर लिया। राजाने बालकसे हँसीका कारण पूछा। बालक गम्भीर हो गया। पीछे उसने कहा—‘आज मैंने देखा कि माता-पिता जिस संतानके लिये प्राण देते हैं, उसीको उन्होंने पैसोंके लोभमें आकर बेच दिया। काज़ी जो धर्म और मर्यादाकी

रक्षा करनेवाला कहा जाता है, उसने राजाको खुश करनेके लिये धर्मके सिद्धान्तको ही बदल दिया और राजाके जीवनको बचानेके लिये भले ही किसीके प्राण लिये जायँ, पर धर्म उस अपराधको अपराध और पापके रूपमें अस्वीकार करनेको तैयार नहीं। प्रजाका रक्षक बादशाह ही जब भक्षक बनने जा रहा हो, उस समय ईश्वरके अलवा व्यक्तिको सहारा देनेवाला हो भी कौन सकता है। अतः मुझे उस परमात्माकी याद

करके हँसी आ गयी कि यहाँ तो ऐसा अंधेर मचा हुआ है; देखें, सबका रक्षक क्या करता है !

‘मुझे क्षमा कर, वेटा ! अब तू निश्चिन्त हो जा । जल्लादकी तलवार अब तुम्हारा कुछ भी न बिगाड़ सकेगी’— शाहने अपनी भूल स्वीकार करते हुए कहा । एकत्रित जनसमुदायके मुखसे बरबस—‘शाहकी जय’ का उद्घोष होने लगा ।
—‘अखण्ड ज्योति’

करूँ तो क्या करूँ !

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त ‘हरि’)

देव !

दिलके गमलेमें सबसे छिपाकर मैंने तुम्हारे प्रेमकी तुलसीका विरवा लगाया ।

चुप-चुप अँधेरे-उजाले आँसू बहाकर अश्रु-वारिसे उसे सींचा ।

निशीथकी निःस्तब्ध बेलामें जब सब सोये पड़े रहते हैं, उसे पूजा ।

मन-ही-मन मुँहसे भाप भी न निकालकर मनौती मानी ।

यह सब इस तरह इसलिये किया मैंने कि किसीको पता न चले, बात फैले नहीं ।

लेकिन बात बनी नहीं, सारी सतर्कता—सजगता धरी रह गयी ।

सींचना, पूजना, मनौती मानना फल लाया ।

तुलसीका विरवा बढ़ा, फैला और समूचे विश्वपर छा गया ।

तुम डोर-खिंचे-से, पागल बने मेरे चारों ओर चक्कर काटने लगे । स्वयं परवाना बनकर तुमने मुझे शमा बना डाला ।

शमाके प्रकाशमें किसे क्या न सूझे !

पता चल गया, बात फैल गयी ।

कानाफूसियाँ होने लगीं । अँगुलियाँ उठने लगीं । जैसे मैंने बड़ा गुनाह कर डाला हो और तुमने भी ।

क्या सचमुच गुनहगार हूँ मैं और तुम भी ? क्या तुमसे प्रेम करना गुनाह है ? क्या तुमपर अपनेको समर्पित कर देना, तुम्हारे लिये तिल-तिल करके जलना-घुलना पाप है ? लज्जाके मारे मरी जा रही हूँ मैं ।

मेरी लाजके स्वामी !

मेरी पतके राखनहार !

मेरे माखनके चाखनहार !

कुछ तुम्हीं बोलो, बतलाओ !

करूँ तो क्या करूँ मैं अब !

ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अनुभवपूर्ण लेखोंके कुछ पुस्तकाकार संग्रह

					अजिल्द	सजिल्द
१-आत्मोद्धारके साधन	पृष्ठ-संख्या ४६४, रंगीन चित्र ४	मूल्य	१.२५		
२-भक्तियोगका तत्त्व	" ४५६, " ४	"	१.२५		
३-कर्मयोगका तत्त्व	" ४२०, " २, सादे ३	"	१.१२		
४-महत्त्वपूर्ण शिक्षा	" ४७६, " ४	"	१.००	१.३७	
५-परम साधन	" ३७२, " ५	"	१.००	१.३७	
६-मनुष्यका परम कर्तव्य	" ४१०, " ४	"	१.००		
७-परमशान्तिका मार्ग	" ४१६, " ४, सादा २	"	१.००	१.३७	
८-ज्ञानयोगका तत्त्व	" ३८४, " ३	"	१.००	१.३७	
९-प्रेमयोगका तत्त्व	" ३८०, " ५	"	१.००	१.३७	
१०-आत्मोद्धारके सरल उपाय	" २६८, " १	"	०.७५		

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग ।

विशेष जानकारीके लिये सूचीपत्र अलगसे भेगाइये ।

गीता-दैनन्दिनी सन् १९७३ ई०

आकार २२x२९ बच्चीस-पेजी, पृष्ठ-संख्या ४००, मूल्य साधारण जिल्द ७५ पैसे, डाकखर्चसहित मूल्य एक प्रतिका २.००, दो प्रतियोंका ३.००, तीन प्रतियोंका ३.९०

इस वर्ष सजिल्द नहीं बनायी गयी है

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक-क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कैलेंडर, प्रार्थना, वेदभगवान्का पवित्र आदेश, ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश, नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृतोपदेश, कुछ अन्य उपदेशात्मक सामग्री, कुछ जानने योग्य उपयोगी बातें—जैसे रेलभाड़ा, डाक-तार, इन्कमटैक्स, मृत्युकर, माप-तौलकी नयी मैट्रिक प्रणाली, उनका तुलनात्मक परिवर्तन, कागजका माप, दैनिक वेतन और मकानभाड़ा चुकानेका नक्शा, अनुभूत घरेलू दवाओंके प्रयोग, स्वास्थ्यरक्षाके सप्तसूत्र, ध्यान और आरती भी दी गयी हैं ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीराधा-भक्तकी ऐकान्तिक अभिलाषा

पूर्णानुरागरसमूर्ति तडिल्लताभं
ज्योतिः परं भगवतो रतिमद्रहस्यम् ।
यत्प्रादुरस्ति कृपया वृषभानुगेहे
तत्किंकरी भवितुमेव ममाभिलाषः ॥

एक रहस्यमयी परम ज्योति है, जो परात्पर परमपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको अपने आपमें रमा लेती है, जिसका कान्ति विद्युच्छताके समान देदीप्यमान है और जो पूर्णतम अनुराग-रसकी मूर्ति है। अहो ! कृपापूर्वक ही वह श्रीवृषभानु-भवनमें प्रादुर्भूत हुई है। मेरी तो यही अभिलाषा है कि उसीकी दासी हो रहूँ।

तस्या अपाररससारविलासमूर्ते-
रानन्दकंदपरमाद्भुतसौम्यलक्ष्म्याः ।
ब्रह्माविर्गुर्मगतेर्वृषभानुजायाः
कैकर्थ्यमेव मम जन्मनि जन्मनि स्यात् ॥

जो अपार रस-सारकी विलास-मूर्ति, आनन्दकी मूल एवं परमाद्भुत सौम्य शोभा-स्वरूपिणी हैं एवं जिनका मति ब्रह्मादिके लिये भी दुर्गम है, उन श्रीवृषभानुनन्दिनीजूका कैकर्थ्य ही मुझे जन्म-जन्मान्तरोंमें प्राप्त होता रहे।

यस्याः प्रेमघनाकृतेः पदनखज्योत्स्नाभरस्नापित-
स्वान्तानां समुदेति कापि सरसा भक्तिश्चमत्कारिणी ।
सा मे गोकुलभूपनन्दनमनश्चोरी किशोरी यदा
दास्यं दास्यति सर्ववेदशिरसां यत्तद्रहस्यं परम् ॥

जिन प्रेम-घनाकृति किशोरीके पद-नख-ज्योत्स्ना-प्रवाहमें अवगाहन किये हुए अन्तःकरणवाले भक्तोंके अंदर कोई अनिर्वचनीय सरस चमत्कारिणी भक्ति सम्यक् रूपसे उदय हो जाती है, वे गोकुल-भूप-नन्दन (श्रीलालजी) के भी मनका हरण करनेवाली किशोरी मुझे अपना सर्ववेदशिरोभूत (उपनिषदोंका) भी परम रहस्यरूप दास्य कब प्रदान करेंगी।

उपास्यचरणाम्बुजे व्रजभृतां किशोरीगणै-
र्महश्चिरपि पूरुषैरपरिभाव्यभावोत्सवे ।
अगाधरसधामनि स्वपदपद्मसेवाविधौ
विधेहि मधुरोज्ज्वलामिव कृति ममाधीश्वरि ॥

हे व्रजश्रेष्ठकिशोरीगणाराध्यचरणाम्बुजे ! हे नारदादि महापुरुषोंकी कल्पनामें भी न आनेवाले भावोत्सवसे सम्पन्न खामिनि ! आप अगाध रसधामभूत अपने चरण-कमलोंकी सेवा-विधिमें मेरे लिये मधुर एवं उज्ज्वल कर्तव्यका ही विधान कीजिये।

अतिस्नेहावुच्चैरपि च हारनामानि गृणत-
स्तथा सौगन्ध्याद्यैर्बहुभिरुपचारैश्च यजतः ।
परानन्दं वृन्दावनमनुचरन्तं च दधतो
मनो मे राधायाः पदमृदुलपद्मे निवसतु ॥

मैं अत्यन्त स्नेहपूर्वक उच्चस्वरसे श्रीहरिके नामोंका गान करता रहूँ, सुगन्ध आदि अनेक उपचारोंसे उनका पूजन करता रहूँ तथा श्रीवृन्दावनमें विचरते हुए परमानन्दस्वरूप भगवान् नन्दनन्दनको हृदयमें धारण किये रहूँ; फिर भी मेरा मन निरन्तर श्रीराधाके मृदुल पाद-पद्मोंमें ही बसा रहे।

(श्रीराधाभक्तानिधि)